

**PAGES MISSING
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182958

UNIVERSAL
LIBRARY

GUP—390—29-4-72—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **481**

Accession No.

Pg. 4.3083

Author

B57J

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

जायसी : एक विवेचन

(जायसी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विशद् अध्ययन)

लेखक

बेशराजसिंह भाटी एम० ए०



प्रकाशक

हिन्दी साहित्य संसार

पटना-४ : बिल्सी-६

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य	:	पाँच रुपये (५.००)
प्रथम संस्करण	:	सितम्बर १९६२
प्रकाशक	:	हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-६
मुद्रक	:	मुद्रण कला केन्द्र द्वारा नूतन प्रेस, चाँदनी चौक, दिल्ली

दो शब्द

महाकवि जायसी का हिन्दी-साहित्य में जो महत्वपूर्ण स्थान है, उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं। इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि इनका स्थान भक्त प्रवर सूरदास और लोकनायक तुलसीदास की पंक्ति में निर्विवाद रूप से निश्चित है। आवश्यकता केवल इतनी है कि जायसी-काव्य का अभी तक जो अपेक्षित अध्ययन नहीं हो सकता है वह होना चाहिए। ज्यों-ज्यों इनके काव्य का अपेक्षित अध्ययन होगा, त्यों-त्यों इनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर अनेक दिशाओं में नवीन प्रकाश पड़ेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

प्रस्तुत कृति इसी दिशा का सम्भवतः प्रथम प्रयास है। इस प्रयास में जायसी-काव्य की नवीन दिशाओं को खोजने की अपेक्षा इनके अबतक के अध्ययन को एकीकरण करने का प्रलोभन अधिक रहा है। ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि इस कृति का मूल उद्देश्य गवेषणात्मक न होकर जायसी-काव्य के अध्ययन को सुलभ और सुबोध बनाना है, जिससे जायसी के पाठक, विशेषतः उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी लाभान्वित हो सकें। हमें विश्वास है कि अपने इस उद्देश्य में यह कृति सफल सिद्ध होगी।

श्री लक्ष्मणदत्त गौतम एम० ए०, साहित्यरत्न एवं हिन्दी साहित्य के हास्यरस के सफल कवि श्री ओमप्रकाश शर्मा एम० ए० तथा प्रो० दानबहादुर पाठक एम० ए० का इस कृति के प्रणयन में पूर्ण सहयोग रहा है। इनके प्रति किसी प्रकार का आभार-प्रदर्शन हृदय के उस मधुरतम सम्बन्ध को चुनौती देना है जो सामाजिकता की कृत्रिम सीमाओं को कभी नहीं स्वीकारता।

इस कृति में जिन लेखकों की कृतियों से सहायता ली गई है, उनके प्रति लेखक हार्दिक आभार प्रकट करता है।

—बेशरार्जसिंह भाटी

विषय-सूची

१. सूफीमत का उदभव और विकास ✓

सूफी शब्द की उत्पत्ति, सूफी मत का उद्भव एवं प्रभाव, भारतीय मत, पश्चात्य मत, निष्कर्ष ; सूफीमत का विकास, भारत में प्रवेश और साहित्य पर प्रभाव ।

१—१४

२. जायसी का युग

राजनैतिक परिस्थिति, सामाजिक परिस्थिति, सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, भक्ति-आन्दोलन, इस्लाम और भारत, साहित्यिक परिस्थितियाँ, निष्कर्ष

१५—२५

३. जायसी का जीवन-वृत्त

अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य, जन्म-तिथि, जन्म-स्थान, बाल्यकाल, अध्यात्म की ओर, सन्तान, जायसी और अमेठी, जायसी की मृत्यु, गुरु-परम्परा, ज्ञानार्जन, विविध विषयों तथा धर्मादि की जानकारी, जायसी का व्यक्तित्व ।

२६—३६

४. जायसी के काव्य ग्रन्थ

जायसी की रचनाएँ, पद्मावत-रचनाकाल, पद्मावत का साहित्यिक मूल्यांकन, आखिरीकलाम-रचनाकाल, पद्मावत से तुलना, निष्कर्ष, अखरावट-रचनाकाल, साहित्यिक मूल्यांकन, निष्कर्ष ।

४०—६०

५. जायसी के पद्मावत का हिन्दी-साहित्य में स्थान ✓

रचना काल, कथानक, कहानी-कला, पात्र, चरित्र-चित्रण कथोपकथन, शैली, उद्देश्य, काव्य-सौन्दर्य, भावपक्ष, कलापक्ष, महाकाव्यत्व, दार्शनिकता रहस्यवाद, अन्य विशेषताएँ ।

६१—८१

६. पद्मावत में संयोग शृंगार ✓

प्रेम की पीर के गायक, बसन्त खण्ड, विवाह-खण्ड, सौन्दर्य-चित्रण, हाव-योजना, षट्श्रुतु, निष्कर्ष ।

८२—८७

७. पद्मावत में विरह-वर्णन ✓

शृंगार के दो भेद—वियोग और संयोग, वियोग के चार प्रकार, बारह-माशा, सन्देश, विरह-तत्त्व की प्रधानता, निष्कर्ष ।

८८—९५

८. पद्मावत में प्रतिष्ठित प्रेम-पद्धति

प्रणय-कथा अलौकिकता, वर्णनात्मकता, प्रेम-खण्ड, जोगी-खण्ड, आध्यात्मिक प्रेम, निष्कर्ष । ६६—१०५

९. जायसी का रूप-वर्णन

दो स्थल, पारस रूप, सृष्टिव्यापी प्रभाव, अप्रस्तुत विधान (उपमान-रूप), पद्मावती का नखशिख, रूप-सौन्दर्य के उपमान, उपमान रूपों का सौन्दर्य, निष्कर्ष । १०६—१११

१०. जायसी का प्रकृति-चित्रण

अलंकारिक रूप, उद्दीपन रूप, सुखद रूप उद्दीपन, दुःखद रूप उद्दीपन, भावात्मक रूप रहस्यात्मक रूप, उपदेशात्मक रूप, प्रतीकात्मक रूप, वस्तु परिगणन रूप, स्वतंत्र रूप, निष्कर्ष । ११२—१२०

११. जायसी के दार्शनिक विचार

चार अवस्थाएँ एव सात कयाम, शरीयत, तारीकत, मारिफत, हकीकत, चार लोक, सात मुकामान, जायसी की दर्शनिकता, नाथपंथी और हठयोग का प्रभाव, निष्कर्ष । १२१—१२८

१२. जायसी का चरित्र-चित्रण

रत्नसेन—आदर्श प्रेमी, अडिग विश्वास, उदार एव मरल, क्षत्रियत्व ; अलाउद्दीन—खल प्रतिनायक, लम्पट प्रेमी, रूप लोभी, वीर-भावना, माया का प्रतीक; पद्मावती—सच्ची प्रेमिका, आदर्श गृहिणी, दूरदर्शिता एवं बुद्धिमता, स्त्री-सुलभ दुर्बलताएँ, निष्कर्ष; नागमती—रूप-गविता, आदर्श-गृहिणी, विरह-विदग्धा, निष्कर्ष । १२९—१३६

१३. पद्मावत में अलंकार-योजना

अलंकार का अर्थ, सादृश्यमूलक अलंकार, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति रूपक, निदर्शना, यमक, तद्गुण, दृष्टान्त, विभावना, संदेह, अनुप्रास, उपमा, परम्परागत प्रयोग, निष्कर्ष । १३७—१४०

१४. पद्मावत की मसनवी शैली

पाशोपन, पद, प्रतिपाद्य, आरम्भ मे, विभाजन, उपसंहार, निष्कर्ष ।

१४१—१४६

१५. पद्मावत में रस-योजना

रस, शृंगार रस, संयोग शृंगार, वियोग शृंगार, करुण रस, वात्सल्य रस, भयानक और अद्भुत रस, वीर रस, वीभत्स रस, रौद्र, शान्त तथा हास्य रस, निष्कर्ष । १४८—१५४

१६. पद्मावतः एक अन्योक्ति

आक्षेप, समाधान, हठयोग, साधना-मार्ग, नागमती का विरह, कमलसेन और नागसेन, प्रतीक, निष्कर्ष । १५५—१६०

१७ हिन्दी में प्रेमगाथा काव्य और जायसी ✓

परिस्थितियाँ, सूफियों का भारत में प्रवेश, चार सम्प्रदाय, हिन्दी-साहित्य में प्रेम-काव्य, मृगावती, मधुमालती, पद्मावत, चित्रावली, ज्ञानदीप, हंस-जवाहर, इन्द्रावती और अनुराग-बाँसुरी, प्रेमरतन, पद्मपावती; समानताएँ, काव्य जायसी का योगदान, निष्कर्ष । १६१—१७१

१८. महाकवि जायसी और तुलसी

युग और आविर्भावकालीन परिस्थितियाँ, बाल्यकाल और शिक्षा-दीक्षा, ग्रन्थ और उनके विषय, साहित्यिक मूल्यांकन, समाज धर्म और राजनीति विशिष्टताएँ । १७२—१८४

१९. महाकवि जायसी और कबीर की रहस्य-भावना ✓

परिभाषा, अद्वैतवाद, रहस्यवाद के भेद, साधनात्मक रहस्यवाद, भावात्मक रहस्यवाद रहस्यवाद की परम्परा, समानता, असमानता, निष्कर्ष ।

२०. परिशिष्ट

१८५



सूफीमत का उद्भव और विकास

‘सूफी धर्म’ के उद्भव को जानने के पूर्व ‘सूफी’ शब्द की उत्पत्ति का ज्ञान प्राप्त कर लेना नितांत आवश्यक है ; क्योंकि इस विषय में अनेक मत प्रचलित हैं, जिनमें कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख हम यहाँ कर रहे हैं।

सूफी शब्द की उत्पत्ति

“कुछ लोगों की धारणा है कि मदीना में मस्जिद के सामने एक सुफ्फा (चबूतरा) था, उसी पर जो फकीर बैठते थे वे सूफी कहलाये। दूसरे लोगों का कहना है कि सूफी शब्द के मूल में ‘सफ’ (पंक्ति) है। निर्णय के दिन जो लोग अपने सदा-चार एवं व्यवहार के कारण श्रीरों से अलग एक पंक्ति में खड़े किये जायेंगे, वास्तव में उन्हीं को सूफी कहते हैं। तीसरे दल के विचार में सूफी शब्द सोफिया (ज्ञान) का रूपांतर है। ज्ञान के कारण ही उनको सूफी कहा जाता है ; पर अधिकतर विद्वानों का मत है कि सूफी शब्द वास्तव में ‘सूफ’ (ऊन) से बना है। सूफधारी ही वास्तव में सूफी के नाम से विख्यात हुए। निकल्सन, ब्राउन, मारगोलियथ प्रभृति विद्वानों ने सिद्ध कर दिया है कि वास्तव में सूफी शब्द सूफ से बना है। अनेक मुस्लिम प्रतिभाओं ने भी इसे स्वीकार किया है। अस्तु; हमको यह व्युत्पत्ति मान्य है। जान या गूहन्ना भी सूफधारी था, पर अब सूफी का प्रयोग मुस्लिम संत या फकीर के लिए ही नियत-सा समझा जाता है।”^१

“ईसा की आठवीं शताब्दी में इस्लाम धर्म में एक विप्लव हुआ; राजनीतिक नहीं, धार्मिक। पुराने विचारों के कट्टर मुसलमानों का एक विरोधी दल उठ खड़ा हुआ। वह फारस का एक छोटा-सा संप्रदाय था। इसने परम्परागत मुस्लिम-आदर्शों का ऐसा घोर विरोध किया कि कुछ समय तक इस्लाम के धार्मिक क्षेत्र में उथल-पुथल मच गई। इस संप्रदाय ने संसार के सारे सुखों को तिलांजलि-सी दे दी। संसार के सारे ऐश्वर्यों और सुखों को स्वप्न की भाँति भुला दिया। बाह्य भृंगार और बनावटी बातों से उसे घृणा हो आई। उसने एक स्वतंत्र मत की स्थापना की। सादगी और सरलता ही उसके बाह्य जीवन की अभिव्यक्ति बन गई। कीमती कपड़े और स्वादिष्ट भोजन से उसे घृणा हो गई। सरलता और सादगी का आदर्श अपने सम्मुख रख उस

सम्प्रदाय ने अपने शरीर के वस्त्र भी बहुत साधारण रखे । वे थे सफेद ऊन के साधारण वस्त्र । फारसी में सफेद ऊन को 'सूफ' कहते हैं । इसी शब्दार्थ के अनुसार सफेद ऊन के वस्त्र पहननेवाले व्यक्ति 'सूफी' कहलाने लगे । उनके परिधान के कारण ही उनके नाम की सृष्टि हुई ।”^१

सूफी शब्द का व्यवहार किसी व्यक्ति के साथ, कब से उपाधि रूप में जुड़ा, कुछ निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता । लेकिन कुथैरी के अनुसार इस शब्द का प्रचलन ईसा की नवी शताब्दी के प्रारम्भ में बहुत हो गया । 'अवारीफुल मारीफ' के प्रणेता शेख शाहाबुद्दीन सुहरावर्दी का भी ऐसा ही कथन है कि पैगम्बर की मृत्यु के दो सौ वर्षों के बाद ही इस शब्द का आविर्भाव हुआ । वैसे बाद में चलकर सूफी सम्प्रदाय के सम्बन्ध में लिखनेवालों ने जो उसके किसी न किसी सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त थे, इस बात को बहुत दूर तक बढ़ा-चढ़ाकर लिखा है । इन लोगों के अनुसार यह शब्द और मत पैगम्बर के समय से अथवा उससे भी पहले से चला आ रहा है । इन कथनों में भावना और कल्पना का ही प्राधान्य है । किसी ऐतिहासिक तथ्य की उद्भावना नहीं । जामी का कहना है कि सर्वप्रथम इस शब्द को अपने नाम के साथ जोड़नेवाला कूफा का अलहाशिम था । निकल्सन के विचार से अरबी लेखकों में संभवतः बसरा का 'जाहिज प्रथम' था । जिसने सूफी शब्द का प्रयोग किया है । इसी क्रम में प्रो० रामपूजन तिवारी लिखते हैं—“इसमें संदेह की गुंजायश नहीं कि प्रारम्भिक काल में संन्यास जीवन बितानेवाली प्रवृत्ति ही प्रमुख थी, जिसने बाद में रहस्यवादी प्रवृत्तियों को अपनाया । संन्यास जीवन और रहस्यवादी प्रवृत्ति का संयोग उमैय्या खलीफों के शासन के अन्तिम दिनों में देखने लगता है और वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है । अब्बासी खलीफों के शासन के प्रारम्भिक काल में ही यह प्रवृत्ति अत्यधिक व्यापक हो उठी है और 'सूफी' शब्द का प्रसार अधिक से अधिक हो जाता है । पहले जहाँ यह शब्द व्यक्तियों के नाम के साथ जुड़ा हुआ मिलता है, वहाँ पचास वर्षों के भीतर इसका प्रयोग सम्पूर्ण ईराक के रहस्यवादी साधकों के लिए होने लगा और दो सौ वर्ष बीतते-बीतते प्रायः सभी मुस्लिम रहस्यवादी साधकों के लिए इसका व्यवहार होने लगा । तब से आज तक 'सूफी' शब्द का व्यवहार उसी अर्थ में होता आ रहा है ।”^२

सूफीमत : उद्भव एवं प्रभाव

भारतीय मत - इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में कम मतभेद नहीं । “सूफी शब्द का प्रचलन चाहे जब हुआ हो, परन्तु इसमें अन्तर्निहित भावना उतनी ही प्राचीन है

१. कबीर का रहस्यवाद : डॉ० रामकुमार वर्मा

२. सूफी साधना और साहित्य : प्रो० रामपूजन तिवारी

जिस्तीना विचरित मानत्र हवकः क्योंकि सूफी भावना भी मानव में सर्वत्र से तरंगित रहस्य की जिज्ञासा का ही परिणाम है। मानव मन निसर्गतः एक सा है जो सदा आत्म के मूल की खोज में प्रकट या अप्रकट रूप से विकल रहता है। मुस्लिम साधकों के मन में भी यही भावना देश काल के साधन पाकर उद्बुद्ध हुई और अन्त में सूफीमत के रूप में संसार के समक्ष आविर्भूत हुई।”^१

अबुल हसन अलनूरी के अनुसार सूफीमत संसार के प्रति घृणा और प्रभु के प्रति प्रेम-रूप में गम्भीर धार्मिक भावों का प्रकाशन है। जुनेद का कहना है कि तसव्वुफ ईश्वर द्वारा पुरुष में व्यक्तित्व की समाप्ति और ईश्वरत्व की उद्बुद्धि का नाम है।

अली गंजली की दृष्टि में जो शान्ति से रहता हुआ ईश्वर में अविराम लीन रहे, सूफी है। शिब्ली ने ईश्वर के अतिरिक्त अखिल विश्व के त्याग को तसव्वुफ कहा है। अलहुजविरी अमूर्त तत्त्व को ही सूफीमत बताता है।

डॉ० विमलकुमार जैन की दृष्टि में — “विधि-विधानों से मुक्त मोड़ निखिल विश्व में व्याप्त इस शाश्वत तथा अमूर्त शक्ति की झलक सर्वत्र पाकर मुस्लिम साधकों ने जो रहस्य अभिव्यक्त किये उन्हीं के सामंजस्य का नाम सूफीमत है।”^२ सूफीमत या तसव्वुफ भी रहस्यवाद ही है जो अन्तर्निहित भावना के सार्वकालीन एवं सार्वदेशिक होते हुए भी मूलतः मुस्लिम संप्रदाय से सम्बन्ध रखता है। विश्व में सच्चाई एक है। रहस्यवाद, चाहे वह सूफीमत हो चाहे अद्वैत मत, उसी सच्चाई के आविष्करण का नाम है।

(इस प्रकार सूफीमत केवल आदर्शवाद से परे तथा बौद्धिक स्तर को आधार न बनाता हुआ एक धर्म है जिसमें रहस्य के प्रकटन का प्राधान्य होता हुआ भी चमत्कार को कोई स्थान नहीं है।)

उद्भव एवं प्रभाव—डॉ० लक्ष्मीधर शास्त्री ने भाषा-विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध किया है कि इस्लाम से पूर्व दक्षिणी अरब और यीमेन की सम्यता का उद्गम भारतीय था। ईसा की तीसरी शताब्दी में ईसाई प्रचारकों ने अरब में पग रक्खे और नजरान में आकर बसे। ईसाई साधु इतस्ततः भ्रमण करते तथा हनीफ लोगों को मूर्तिपूजा के त्याग और एकेश्वरवाद की शिक्षा देते। साथ ही संन्यस्त जीवन को अपनाने के लिए उत्साहित करते थे और सादा वस्त्र एवं अनेक प्रकार के भोजनों से निवृत्ति की शिक्षा भी देते थे। कुरान में भी ईसाइयों की प्रशंसा की गई है।

१. सूफीमत और हिन्दी साहित्य : विमलकुमार जैन

२. वही

“इस्लाम से पूर्व अरब में बहुविवाह प्रचलित था । वह प्रथा मुसलमानों में भी आई। ईसाई मत इस विषय में प्रभाव न डाल सका । अनेक गुहा मण्डलियाँ भी थीं तथा देव-वासियों का भी प्रचार था, जिनके द्वारा रति को प्रवीणता मिल रही थी । साधकों ने उस रति-भाव को रति-परक कर दिया जिसमें कुरान में वर्णित, ईश्वर सबका है, विश्व के सारे धर्म उसी एक की आराधना करते हैं; भिन्न-भिन्न रूपों में वही किसी महापुरुष द्वारा सद्ज्ञान प्रचारित करता है । अतः बुद्ध-भिन्न रूपता नगण्य है । इन शिक्षाओं ने उदार शिष्यों के हृदय में विश्व-बन्धुत्व उत्पन्न कर दिया । आगे चलकर यही रतिभाव सूफीमत का आधार बना । सूफी-साधकों ने इसी सांसारिक प्रेम को दैवी प्रेम की सीढ़ी माना ।”^१

मुहम्मद साहब के जीवन का अध्ययन हमें बतलाता है कि वे संसार से विरक्त भी थे । संसार का अंतर्द्वन्द्व उन्हें कभी-कभी विकल कर देता था और वे एकान्त चिन्तन में लीन रहते थे । चालीस वर्ष की अवस्था से कुछ पूर्व वे हेरा की गुफाओं में चले जाते थे और कई दिनों तक ईश्वरीय ध्यान में निमग्न रहते थे । सन् ६०६ ई० रमजान के दिनों में एक रात उसी गुफा में उन्हें ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त हुई । उनमें दैवी गिरा अवतरित हुई, कुरान उसीका परिणाम है । उन्होंने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित किया । हेरा की गुफा का यही चिन्तन सूफीमत के चिन्तन का प्राथमिक आधार बना । इस प्रकार आदि सूफियों को अंतिम रसूल के जीवन में सूफीमत के बीज मिले ।

कुछ सूफियों का कथन है कि सूफीमत का आदम में बीजवपन हुआ, नूह में अंकुर जमा, इब्राहिम में कली खिली, मूसा में विकास हुआ एवं मसीह में परिपाक और मुहम्मद में फलागम हुआ ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूफीमत अथवा तसव्वुफ के आविर्भाव में पैगम्बर साहब की शिक्षाओं एवं उनके निजी व्यक्तित्व ने पर्याप्त सहयोग दिया । मुहम्मद साहब द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कोई नई चीज नहीं थी, वरन् वैदिक तथा ईसाई एकेश्वरवाद का ही यह प्रतिरूप था । ईश्वर का जो स्वरूप वर्णित है उसमें सूफियों के लिए रहस्यवाद के बीज विद्यमान थे । सूफी ईश्वर को भय का कारण न मानकर प्रेम का पात्र मानते हैं । कुछ लेखकों का विश्वास है कि सूफीमत का मूल स्रोत कुरान ही है जिसका रहस्यपूर्ण अर्थ केवल सूफियों के हृदय में ही प्रकाशित हुआ था ।

“सूफियों की भावाविष्टावस्था उनके प्रेमोन्माद और परमात्मा को पाने की आतुरता कुरान से आई हुई नहीं जान पड़ती । इस्लाम धर्म की प्रकृति में इस प्रकार की रहस्यवादी भावना नहीं है । बैसे ऐसा कहने का अर्थ यह नहीं है कि

रहस्यवादी भावना इस्लाम में एकदम नहीं है, लेकिन इतना अवश्य है कि प्रारम्भिक काल के धार्मिक प्रवृत्तिवाले मुसलमानों का ध्यान उसकी ओर नहीं था। मनुष्य और परमात्मा के बीच प्रेम का सम्बन्ध तथा अन्य रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ उसमें बाहर से आईं।”

पाश्चात्य मत—सूफीमत की रहस्यात्मक प्रवृत्ति जब इस्लाम से नहीं आई तो आखिर कहाँ से आई ? इस सम्बन्ध में कुछ योरोपीय विद्वानों ने खोज की है जिनमें से अधिकांश का यह मत है कि उस काल में जिस समय सूफीमत ने रूप लेना प्रारम्भ किया था, ग्रीक-दर्शन और ग्रीक-विचारकों का प्रभाव इस्लामी दुनियाँ में अधिक था।

एडलवर्ट मर्क्स ने सूफीमत का आविर्भाव यूनानी दर्शन से बताया है। ब्राउन का कहना है कि अन्य विचारधाराओं की अपेक्षा सूफीमत के सिद्धान्तों के बनाने में नव अफलातूनी दर्शन का सबसे अधिक हाथ है।

निकोलसन ने यूनानी प्रभाव को सूफीमत के आविर्भाव तथा विकास में प्रमुख स्थान दिया है। उसके अनुसार यूनानी प्रभाव के कारण इस्लाम के प्रारम्भ कालीन संन्यास का रूप बदल गया और रहस्यवादी प्रवृत्तियों का उसमें प्रवेश हुआ तथा संन्यास जीवन के क्रिया-कलापों का उद्देश्य आत्मा की शुद्धि के लिए साधन-मात्र माना जाने लगा। आत्म-शुद्धि का प्रयोजन यह समझा जाता था कि आत्मा विशुद्ध होकर परमात्मा को जान सके, उससे प्रेम कर सके तथा उसके साथ एकत्व प्राप्त कर सके। इसके साथ ही निकोलसन ने सूफीमत पर ईसाई धर्म तथा बौद्ध-धर्म का भी प्रभाव माना है।

सूफियों की अनेक क्रियाओं में भारतीयता की छाप है। वान क्लैमर के साथ गोल्डजिहिर इस बात पर एकमत है कि सूफियों की भावाविष्ठावस्था को उत्पन्न करनेवाली कुछ क्रियाएँ भी निस्सन्देह सूफीमत में भारत से आईं।

वान क्लैमर ने सूफीमत पर ईसाई साधकों के तापस जीवन और बौद्धों की चिन्ताधारा दोनों का प्रभाव माना है। उसकी दृष्टि में बौद्ध-तत्त्व-चिन्तन के द्वारा इस्लाम की रहस्यवादी प्रवृत्ति में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए वही सूफीमत के रूप में प्रगट हुआ। सोपेनहावर ने सूफीमत पर भारत का पूर्णतः प्रभाव माना है।

बहुत लोगों का ऐसा भी कहना है कि सूफीमत वास्तव में हिन्दुओं के वेदान्त दर्शन का इस्लामी संस्करण है।

कुछ लोगों का ऐसा भी कहना है कि सूफीमत वास्तव में आर्य जाति के धार्मिक विकास के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ। कुछ लोगों ने इसके आविर्भाव को सैमेटिक (शामी) धर्म की विजय के विरुद्ध आर्यों की प्रतिक्रिया माना है।

प्रोफेसर रामपूजन तिवारी ने उपर्युक्त समस्त मतों की चर्चा करते हुए लिखा है “जिस काल में सूफीमत के रूप ग्रहण करने की बात कही जाती है उस काल के पहले से ही भारतवर्ष के साथ अरबों का घनिष्ठ सम्बन्ध हो चुका था। इन राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्धों के साथ वे यहाँ के लोगों के रहन-सहन, धर्म, साधना-पद्धति आदि के सम्पर्क में भी आये। वे यहाँ के बौद्ध संन्यासियों, तान्त्रिकों, सिद्धपीठों से अवगत हो चुके थे। सिंध के लोगों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध होना बिल्कुल स्वाभाविक है। सिन्ध में उस काल में बौद्ध-धर्म का प्रचार था। इसका पता अरबों के विवरण से चलता है।”^१

दो प्रकार की संस्कृतियाँ अगर पास-ही-पास हों तो वे एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। साधारण जनता का बाह्यचारों से परिचित होना स्वाभाविक है। मुस्लिम जनता ने निकटवर्ती क्षेत्रों में बौद्ध-श्रवणों की दिनचर्या “संन्यासी जीवन” आदि को देखा था और बहुत अंशों में वह प्रभावित भी हुई थी। इन बाह्याचारों के साथ बौद्ध-दर्शन का भी कुछ-कुछ परिचय धार्मिक प्रवृत्तिवाले मुसलमानों को था। सूफी साधकों ने माला का व्यवहार इन बौद्ध-भिक्षुओं से सीखा। कट्टर मुसलमान इन साधकों को माला का व्यवहार करते देख अश्रुप्रसन्न होते थे। बाद में कुछ परिवर्तनों के साथ इस्लाम में भी माला का समावेश हो गया।

भा/तीय चिन्ताधारा से अरब तथा अन्य देशों का परिचय साहित्य, ज्योतिष, गणित आदि द्वारा भी हुआ था।

अन्त में, प्रो० तिवारी इस निष्कर्ष पर आते हैं—“इसके आविर्भाव तथा बिकार में अन्य धर्म और मतों जैसे भारतीय वेदान्त, बौद्ध-धर्म, नास्टिक मत, नव अफलातूनी तथा यूनानी दर्शन का प्रभाव रहा है। लेकिन यह प्रभाव नकल के रूप में नहीं रहा है; बल्कि उन बाहरी विचारधाराओं को सूफी साधकों एवं तत्व-चिन्तकों ने अपने ढंग से अपनाया और सूफीमत का विकास इस्लाम धर्म को ध्यान में रखते हुए ही हुआ।”^२

निष्कर्ष—वस्तुतः सूफीमत के आविर्भाव का केन्द्र-बिन्दु कोई एक नहीं। न तो यह मत इस्लाम से निकला और न बौद्ध, हिन्दू अथवा ईसाई धर्मों से। इस धर्म के मूल में प्रारम्भ में तापसी जीवन व्यतीत करनेवाले पवित्र साधुओं की उस सावित्क मनोवृत्ति का वास है जो पारलौकिक प्रेम को प्राप्त करने में उनकी सहायिका रही है। कालान्तर में विभिन्न धर्मों, जातियों और संस्कृतियों तथा परिस्थितियों के

सम्पर्क में आने से उसमें समयानुकूल परिवर्तन होते गये, जिसमें अनेक नवीन तत्वों का समावेश भी हुआ। इस प्रकार उत्तरोत्तर इसका विकास होता गया। यही कारण है कि सूफीमत में वे सभी तत्व हैं जिनके द्वारा मानवता का उच्चतर भाव-भूमि पर अनुभव और विकास होता है। सूफीमत की मूल प्रेरक भावना को किसी एक धर्म, जाति या परम्परा की सम्पत्ति नहीं कहा जा सकता।

सूफीमत का विकास

इस्लामी धर्म तथा शासन-सम्बन्धी संस्थाओं के अध्यक्ष मुहम्मद का निधन ८ जून ६३२ ई० को हुआ। उनकी प्रिय पत्नी आएशा के पिता अबूबकर उनके उत्तराधिकारी निर्वाचित हुए। किन्तु उनके समय में स्थान-स्थान पर विद्रोह की चिंगारी फूटी। प्रथम बार अस्त-व्यवस्तता नजर आई, तदुपरान्त उनके उत्तराधिकारी 'उमर' खलीफा हुए और फिर उनके बाद उस्मान अध्यक्ष चुने गये। उस्मान के समय में ही अरब ने शीघ्रता से विलासिता की ओर कदम बढ़ाये। इस्लाम की पवित्रता अब काल्पनिक वस्तु न रह गई। बारह वर्षों के अल्प-जीवन में ही वह इस गति को प्राप्त हुआ। उस्मान ६४४ ई० में खलीफा हुए थे। उस्मान के बाद ६५६ ई० में अली, जो ईश्वरीय दूत के दामाद थे, इस बार इस्लामी धर्म तथा शासन-सम्बन्धी संस्थाओं के अध्यक्ष नियुक्त हुए। इनके समय में स्थिति और भी डावाँडोल हो गई। स्वार्थी की आँधी ने उसके सिंहासन को डगमगा दिया। मुआवियाविन अबी सुफया के अधिनायकत्व में एक भारी विद्रोह हुआ और एक दर्द-भरी कहानी के साथ अन्ततः मुआविया खलीफा हुए।

इस समय तक मुहम्मद के चारों साथी विश्व से बिदा ले चुके थे। मुआविया ने, जो इस समय खलीफा के पद पर था, सर्वप्रथम स्वयं को बादशाह बताया, किन्तु जनता इससे बहुत ही असन्तुष्ट थी। धीरे-धीरे उसमें दो दल हो गये—सिया और खारिजा। ६८० ई० में अली के पुत्र हुसेन ने सामने आकर अपने को सच्चा खलीफा पद का अधिकारी कहा। इस समय मुआविया का पुत्र वजीद सिंहासन पर था। हुसैन-हुसेन का उससे भीषण युद्ध हुआ। कर्बला की भूमि रक्त-रंजित हो गई। हुसैनहुसेन तथा उसके सभी साथी मृत्यु को प्राप्त हुए। वजीद बड़ा नृशंस था। उसने मक्का तथा मदीना पर भी अत्याचार किया। इसकी प्रतिक्रिया हुई। मुस्तार नाम के एक व्यक्ति के नेतृत्व में लोगों ने उसे मार डाला। सीरिया के अरब भी उत्तरी और दक्षिणी अरबों में विभक्त हो गये।

इस्लाम की जन्मदात्री अरब की पुण्य भूमि का सातवीं शताब्दी का यही इतिहास है। इस समय तक जनता इन विद्रोहों और क्रान्तियों से ऊब चुकी थी। उसे अब सन्देह होने लगा कि क्या मुहम्मद साहब की शिक्षा यही मार-काट सिखाती है? क्या कुरान ने मानवता के इसी पथ का प्रदर्शन किया है? क्या इस्लाम के अधिष्ठाता

का यही आदर्श स्वरूप है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न उस समय की शान्ति-प्रिय जनता के मस्तिष्क में उठने लगे थे । मुहम्मद साहब की मृत्यु को अभी सौ वर्ष भी नहीं बीते थे कि इसी बीच पतन का यह ताण्डव नर्तन और नृशंभता का यह रूप प्रकट हुआ । जनता को इससे भारी विरक्ति हो गई और वह कुरान के वास्तविक अर्थ को जानने के लिए लालायित हो उठी । परिणामस्वरूप एक ऐसा वर्ग बन गया जिसने कुरान का दूसरा ही अर्थ निकालना आरम्भ किया । सूफी-धर्म का मूल यहीं से इस्लामी सम्पर्क में आया ।

आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध शान्तिपूर्ण ढंग से बीता । खलीफाओं ने राज्य-व्यवस्था में उन्नति करवाई । जनता के उपर्युक्त वर्ग को कुछ सोचने-समझने का अवसर मिला और विद्या तथा कला की विशेष उन्नति हुई ।

आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पुनः विप्लव आरम्भ हुए । मुस्लिम जनता का अल्पसंख्यक वर्ग इससे घबरा गया । शान्ति की भूखी जनता विह्वल हो उठी । यह अशान्ति और उच्छृङ्खलताओं का युग था । सलमान पारसी ईश्वर के नेतृत्व में एक धार्मिक सुधार आन्दोलन हुआ । सलमान पारसी ईश्वर के निर्गुण स्वरूप का उपासक था । ईश्वर और मनुष्य के बीच प्रेम का सम्बन्ध ही उसके लिए सर्वोत्तम था । उसका वह प्रेम आध्यात्मिक था, पर उसने विश्व की भी उपेक्षा नहीं की । प्रकृति में उसी परमात्मा का प्रतिबिम्ब देखा । सूफी धर्म का प्राण रहस्यवादी प्रेम यहीं से जीवन आरम्भ करता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सातवीं शताब्दी के अन्त में सूफी धर्म का आकारिक आविर्भाव होता है और नवीं शताब्दी तक उसे विकास का स्वरूप मिल जाता है । फिर उत्तरोत्तर उसकी गति का अपना अस्तित्व बनता गया । इसी विकास-कथा को डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने निम्न चार कालों में बाँटा है जिन्हें हम लोग साधार उद्धृत करते हैं—

- १—तापसी जीवन—(७-९वीं शताब्दी ईसवी) ।
- २—सैद्धान्तिक विकास—(१०-१३वीं शताब्दी ईसवी) ।
- ३—सुसंगठित सम्प्रदाय—(१४-१८वीं शताब्दी ईसवी) ।
- ४—पतन—(१९वीं शताब्दी ईसवी से आधुनिक समय तक) ।

तापसी जीवन—(७-९ शताब्दी ईसवी) ऊपर हमने बताया है कि ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्त में जनता का एक वर्ग इस्लाम के प्रचलित स्वरूप से संसकित हो उठा था । सम्भवतः उसका यह दृढ़ विश्वास हो चला होगा कि मुहम्मद साहब की शिक्षा में कुछ और अधिक गहराई है । कुरान मानवता को किसी दूसरे मार्ग पर जाने का आदेश देती है और इस्लाम के घबल प्रकाश ने किसी दूसरे समुन्नत लक्ष्य की ओर ले जानेवाले पंथ को आलोकित किया है । इस वर्ग के मनुष्यों को मुहम्मद

साहब का जीवन तथा कुरान की पवित्र पुस्तक कुछ दूसरी ही शिक्षाएँ देती थी। यह वर्ग उस समय के पतनोन्मुख समाज से अलग एकान्त में व्यष्टि का तापसा जीवन व्यतीत करता था। सूफी-धर्म की प्रारम्भिक उत्पत्ति इसी में अन्तर्निहित है। मुहम्मद द्वारा प्रचारित इस्लाम धर्म के धवल प्रकाश में कई रंग की किरणें मिली हुई थी। राजनीति के शीशे ने उनको अलग-अलग बिखरा दिया। शिया, खारिजा मुजिया और कादरी सम्प्रदायों ने सबसे पहले जन्म लिया। बाद में ये सम्प्रदाय उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गए।



Handwritten signature or mark.

ईसा की सातवीं शताब्दी में सूफी साधक परम्परागत धर्म की पाबन्दी और इसके नियम-कानूनों को मानकर ही चलते थे। उस समय तक सूफीमत नकारात्मक विशेष था। उसके सिद्धान्तों का उस समय तक समुचित विकास नहीं हो पाया था। इस समय तक वे न तो साधना के मानसिक पक्ष की ही ओर अग्रसर हो पाये थे और न पूरा-पूरा फकीरों जैसा जीवन बिताने तक ही सीमित थे। पैगम्बर के कुछ विशेष वचनों और उपदेशों को वे अत्यधिक महत्व देते थे। धीरे-धीरे वे तत्व-चिन्तन की ओर भी अग्रसर होने लगे। किन्तु यह तत्व-चिन्तन की प्रवृत्ति भीतर ही भीतर कार्य कर रही थी और प्रकाश में लगभग सौ वर्षों के बाद आई।

Handwritten signature or mark.

ईसा की आठवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में सूफी साधना का मानसिक बल प्रबल होता गया और सूफी साधकों ने परम सत्ता की सर्वव्यापकता तथा प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में परमसत्ता के दर्शन करने के सिद्धान्त को अधिक से अधिक अपनाया। बगदाद उस काल में जबरदस्त सांस्कृतिक केन्द्र था। अब्बासी खलीफों के दरबार में विद्वानों और अन्य सुधीजनों का पूरा सम्मान था। बाहर के विद्वान् वहाँ आते थे और ईसाइयों, बौद्धों तथा मुसलमानों के बीच शास्त्रार्थ हुंम्रा करता था। इसका प्रभाव सूफी साधकों पर भी पड़ा। ईसा की आठवीं शताब्दी के पिछले दस-पन्द्रह वर्षों से लेकर नवीं शताब्दी के लगभग साठ वर्षों तक, पचहत्तर वर्षों का काल सूफीमत के विकास की एक नई दिशा की सूचना देता है। इसके पहले के साधक फकीरों का सा सादा जीवन बिताते थे और इस प्रकार के जीवन को वे ईश्वरीय विधान के अनुरूप समझते थे। फकीरी जीवन बिताने के साथ इन साधकों ने परम सत्ता को प्रियतम के रूप में देखा। इसके लिए उनके हृदय में प्रेम की व्याकुलता थी। उसका प्रेम पाना ही उनके लिए अभीष्ट था। प्रेम की यह विह्वलता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इस काल के साधक प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में परम सत्ता के दर्शन पाने लगे तथा अहं को खोकर बेखुदी की हालत में परम प्रियतम का साक्षात्कार करने लगे।

सारांश यह है कि इस समय का सूफी-धर्म अत्यधिक व्यावहारिक था और अपने आदर्श के निकट था। पार्थिव संघर्षों से दूर प्रकृति की एकांतिक गोद में उसका विकास हो रहा था। सूफीमत के सिद्धान्त निर्माण की राह में थे।

सैद्धान्तिक विकास—(१०-१६ शताब्दी ईसवी) उपर्युक्त बातों की चर्चा करते हुए प्रो० रामपूजन तिवारी लिखते हैं—“सूफियों के प्रेम और बेखुदी के सिद्धान्त इस्लाम के धर्मानुयायियों को खटकनेवाले थे। सूफी इस्लाम के बाह्य आचारों को उतना महत्त्व नहीं देते थे और उनकी व्याख्या अपने ढंग से करते थे। केवल बाह्य आचार का यंत्रवत् पालन करना सूफियों की दृष्टि में बेकार था। वे अन्तर की शुद्धि तथा हृदय से धर्म के नियमों को समझना और उनका पालन करना मानते थे। इसका फल यह हुआ कि बहुत-से सूफी साधकों को प्राण गँवा देने पड़े और कितनों को निर्वासित होना पड़ा।”^१ राबियाँ और उसकी सहेलियों को शरीयत-विरुद्ध भावनाओं के प्रकाशन के लिए बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। बरजा के हाथ-पैर काट दिये गये, किन्तु इन सन्त महिलाओं ने रसूल (मुहम्मद) की उमेक्षा की और सारे जीवन को परमेश्वर के प्रेम से प्लावित कर दिया। मीरा जिस तरह अपने को कृष्ण की दुलहिन समझती थी, उसी तरह राबियाँ और उसकी सखियाँ अपने को अल्लाह की दुलहिन समझती थीं। इनके उद्गारों में जहाँ प्रेम का पुनीत दर्शन है, जहाँ भावना का दिव्य विलास है, वहाँ वेदना का भी प्राचुर्य है। मंसूर अदम्म प्रेमी जीव था। इसीसे शरीयत के उपासक उसके प्राणों के ग्राहक हो गये, पर वह घबराया नहीं। उसने हँसते-हँसते प्राण गँवा दिये। ‘अनलहक’ कहकर उसने भारतीय ब्रह्मवाद के ‘तत्त्वमसि’ की बात दुहराई। सूफियों के अनेक सिद्धान्त कसूर (हल्लाज) से ही आरम्भ होते हैं। उसीने ‘हुलूल’, ‘लाहूत’, ‘नासूल’, ‘नूर मुहम्मदी’, अन्न, और अनलहक’ की व्याख्या की।

सनातन पंथी इस्लाम के साथ सूफीमत के विरोध को दूर करने तथा इन दोनों में सामंजस्य बैठाने का सर्वाधिक श्रेय गजाली को है। सनातन पंथियों के बीच सूफीमत के प्रति श्रद्धा और आदर का भाव गजाली के ही कारण आया। अब तक बहुत-से लोग सूफियों में काफी प्रसिद्धि पा चुके थे और गुरु परम्परा का प्रणयन हो चुका था। यह बात पूर्ण रूप से मान ली गई थी कि बिना मुर्सीद (गुरु) के आध्यात्मिक जीवन के रहस्य मालूम नहीं हो सकते।

इस काल में सूफी सिद्धान्तों का विकास हुआ। अनेक सैद्धान्तिक पुस्तकों का प्रणयन हुआ। सूफियों में जिस प्रेम का प्रचार तेजी से हो रहा था, उसकी तीन कोटियाँ निर्धारित की गईं—निकृष्ट, मध्यम और उत्तम। परमसत्ता के स्वरूप के विषय में दो विचारधाराएँ प्रचलित हुईं—१. परमसत्ता प्रकाश स्वरूप है और २. परमसत्ता विचार स्वरूप है। इन भावनाओं के विकास में इब्न सीना, इब्न अरबी और इब्न जीली का प्रमुख हाथ था। इब्न सीना के अनुसार, “परमसत्ता का स्वरूप

शाश्वत सौन्दर्य-भरा है। आत्म-अभिव्यक्ति उसकी विशेषता एवं प्रकृति है। वह अपना स्वरूप सृष्टि में प्रतिबिम्बित कर देखती है। आत्म-अभिव्यक्ति ही उसका प्रेम है जो सारे संसार में व्याप्त है। प्रेम सौन्दर्य का आस्वादन है और सौन्दर्यपूर्ण होने के कारण प्रेम भी पूर्ण है। इस प्रकार प्रेम संसार की जीवन-शक्ति है। प्रेम के द्वारा ही मानवात्मा परमात्मा से एकत्व की अनुभूति करती है।—इसी तरह इब्न अरबी और इब्न जीली ने भी अपने सैद्धान्तिक विचार व्यक्त किए। इब्न जीली हिन्दू धर्म से पूर्ण परिचित था।

सूफी धर्म के विकास में इस काल के अनेक कवियों का योग भी महत्त्वपूर्ण रहा है। ईश्वर तथा उसके प्रेम, जीवन और जगत की विवेचना इन कवियों के काव्यों में हमें मिलती है; साथ ही सैद्धान्तिक चर्चा भी उपलब्ध होती है। डा० कमल कुलश्रेष्ठ के शब्दों में—“इस काल में सूफी-धर्म एक सुनियमित सम्प्रदाय बन गया। सूफी प्रवृत्तियों एवं धर्म नियमों का शास्त्रीय विवेचन किया गया। इससे धर्म की रूप-रेखा अति स्पष्ट हो गई। पार्थिव संघर्षों से भागकर तापसे-जीवन का अवलम्बन लेनेवाले थोड़े-से सन्त इस समय बहुसंख्यक हो गये थे और उनका प्रभाव नागरिकों पर बढ़ता जा रहा था। इस समय के सूफी-सिद्धान्त निर्माताओं को राज्याश्रय भी प्राप्त था। शास्त्रीय विवेचन के लिए एक पारिभाषिक शब्दावली का भी निर्माण किया गया।”^१

अब सूफी-धर्म इस्लाम की एक नवीन व्याख्या देने लगा था जिसका आधार दर्शन था। गुरुओं के नामों पर विभिन्न सम्प्रदाय बन-बनकर अपना प्रचार-मार्ग निश्चित कर रहे थे।

सुसंगठित सम्प्रदाय—(१४-१५ शताब्दी ईसवी): यह काल सम्प्रदायों का काल था। अनेक प्रतिष्ठित सन्तों ने स्त्रकीय मतानुसार आध्यात्मिक शिक्षा के प्रचारार्थ इनकी स्थापना की। ए० एम० ए० शुष्टरी ने लिखा है—“इनकी संख्या १७५ से भी अधिक थी, किन्तु सभी गण्य नहीं हैं। उनमें से काबरी, तेफुरी, जुनेबी, नक़शबंदी, शाधिली, शत्तारी, मौलवी और चिश्ती अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।” डा० विमल कुमार जैन ने इस सम्प्रदाय की व्याख्या इन शब्दों में की है—“इन सम्प्रदायों में स्त्री-पुरुष समान रूप से प्रवेश पाते थे। अनेक स्थलों पर मठ बने हुए थे जिनमें मुरीदों (शिष्यों) को शैख (गुरु) के समक्ष कर्तव्यशील एवं आज्ञापालन रहने की शपथ लेकर कुछ वर्ष अध्ययन करना पड़ता था। कुछ सम्प्रदायों में अविवाहित जीवन को श्रेष्ठ समझा जाता था, परन्तु अधिकांशतः इस विचार को मान्यता प्राप्त न हुई। सम्प्रदायों में विभिन्नता होते हुए भी मूल सिद्धान्तों की दृष्टि से कोई अंतर नहीं था। केवल कालानुसार व्याख्या के अंतर से अंतर आ गया है। इनमें अपने कुछ

अभ्यास होते थे जिन्हें वे कठोरता से पालन करते थे। एकान्तवास, मौन, स्वाध्याय, जप एवं ध्यान को बड़ा महत्व दिया जाता था। जुनेद ने अपने सूफीमत को आत्म-समर्पण, उदारता, धैर्य, मौन, विरक्ति, ऊनी वस्त्र, यात्रा एवं निर्धनता रूप उन श्रेष्ठ गुणों पर आश्रित किया था जिनका आदर्श इस्साक, अब्राहम, अयूब, जकरिया, सूसा, ईसा, युही और मुहम्मद साहब में विद्यमान था। सालिक (नव शिक्षित) को इनमें एक को अपना पड़ता था, जिसके द्वारा वह लक्ष्य सिद्धि की ओर बढ़ता था। प्रायः सभी सम्प्रदाय इन्हीं या ऐसे ही गुणों का आचरण परमावश्यक समझते थे।”

इस सम्प्रदाय काल में कोई सैद्धान्तिक उन्नति नहीं हुई। कुछ ग्रंथ लिखे अवश्य गए, पर उनका कोई महत्व विशेष नहीं। इस काल में प्रचार-कार्य के साथ-साथ दिखावे की प्रवृत्ति बढ़ी और करामातों का प्रदर्शन भी। प्रत्येक सन्त करामाती बनता था और उसके शिष्य उसकी करामातों का प्रचार करते थे। अन्ध-विश्वासी और भोली-भाली जनता सहज ही इन करामातों के चक्कर में आ जाती थी और पीरों को ब्रह्म के समान ही पूजने लगती थी। यही सूफी-धर्म के पतन का कारण हुआ।

पतन काल — (१६वीं शताब्दी से आधुनिक समय तक) यह काल अपने नाम से ही अपने कार्यों का विवरण दे रहा है। करामाती सूफी संत जब अपनी पवित्रता खो बैठे, सिद्धान्तों से गिर गए, केवल दिखावा और प्रदर्शन ही उनका एकमात्र सहारा रह गया, तो इस धर्म का पतन हो ही जाना चाहिए था। सम्प्रदायों की संख्या इतनी बढ़ गई थी कि उनका निज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। प्रत्येक सूफी अपना-अपना सम्प्रदाय चलाने का प्रयास करने लगा। लेकिन भीतर से खोखला होने के नाते उसे अपने उद्देश्य में सफलता न मिल सकी। शिष्य गुरुओं की असलियत से परिचित हो गए। ये आडम्बरपूर्ण करामाती-करिश्मे अधिक दिन तक अपने अस्तित्व की रक्षा न कर सके। विश्व की राजनैतिक परिस्थितियों में भी विविध परिवर्तन हुए। धर्म से लोगों की आस्था हटने लगी। वैज्ञानिक प्रकाश में धार्मिक विचार चकाचौंध से अपना रास्ता भूल गए। जनता में भी जागृति आई। नवयुग की लहर सबके मानस से टकरा-टकराकर सबको जगाने लगी। ऐसी दशा में सूफीमत के ये खोखले धर्माध्यक्ष कहाँ तक उसकी रक्षा कर पाते। उनके आडम्बरों का पर्दाफास हो गया और जनता का विश्वास उनसे उठ चला। आज सूफी-धर्म विश्व के धार्मिक गगन के एक कोने में मन्द प्रकाश से लघु नक्षत्र के रूप में टिमटिमा रहा है जिसका होना या न होना इस विश्व के लिए कोई महत्व नहीं रखता। अब भी कुछ सूफी मिल जाते हैं, किन्तु उनका समाज में कोई स्थान नहीं।

भारत में प्रवेश और साहित्य पर प्रभाव

यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता कि सूफी धर्म भारतवर्ष में कब और किसके द्वारा आया। इस्लाम तो उत्तरी भारत में सातवीं-आठवीं शताब्दी में ही आ गया था, परन्तु उसी समय सूफी सम्प्रदाय भी भारत में आ गया हो, यह आवश्यक नहीं और न उसके आने का कोई प्रबल प्रमाण ही मिलता है। कुछ लोग अनुमान लगाते हैं कि आठवीं शताब्दी में सूफियों का प्रवेश भारत में हो गया था पर उनके कथन में कहाँ तक तथ्य है, ठीक रूप से नहीं कहा जा सकता। सामान्यतया अधिकांश विद्वान् इस पक्ष में हैं कि सूफी ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में भारत में आए और तभी से अपना प्रचार धीरे-धीरे बढ़ाने लगे। सर्वप्रथम पंजाब और सिन्ध ही इनके शरणास्थल रहे, जहाँ काफी दिनी तक वे अपना प्रसार करते रहे। वहीं पर ये वेदान्त, गोरखनाथी हठयोग, हीनयानी बौद्ध (सिद्ध) मत आदि के सम्पर्क में आये और परस्पर विचार-विनिमय भी हुआ। इस समय भारत में भक्ति-आन्दोलन चल रहा था। सम्पूर्ण देश एक विचित्र भावना से आप्लावित था। धीरे-धीरे समय बीतता गया, राजनैतिक वातावरण शान्त होता गया और हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर मेल-जोल की भावना बढ़ती गई जिस कारण सूफीमत भारत में विकसित होता गया। इस मत को भारत में फैलाने में इन चार प्रमुख सम्प्रदायों का नाम लिया जाता है—

१—चिश्ती सम्प्रदाय—बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में।

२—सुहरावर्दी सम्प्रदाय—तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में।

३—कादरी सम्प्रदाय—तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में।

४—नक्शबन्दी सम्प्रदाय—सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में।

ये सम्प्रदाय भारत में तुर्किस्तान, ईरान और अफगानिस्तान से विविध संतों द्वारा भारत में प्रचारित हुए। इन्हें कभी भी किसी प्रकार का राज्याश्रय प्राप्त नहीं हुआ, वरन् सूफी-सन्तों के प्रभाव से इनका विकास हुआ। आचरण की पवित्रता और सात्विकता ही इन सन्तों का बल तथा इनके मत प्रचार का साधन था। ये सरल तथा सहिष्णु व्यक्ति थे। हिन्दू धर्म के निष्ठावान् धार्मिक सन्तों का सत्संग करते थे और उनके गुणों को ग्रहण करने की भावना इनमें सदैव रहती थी। ये कट्टरपंथी नहीं थे, उदारता और हृदय की विशालता इनमें कूट-कूटकर भरी थी। अनुभव-संचय के लिए ये विविध स्थानों का भ्रमण करते थे और विद्वानों से भेंट करते थे। ये अत्यन्त मधुर भाषी थे। दूसरों की भावनाओं को ठेस पहुँचानेवाली स्पष्टवादी कबीर-प्रवृत्ति इनमें नहीं थी। तभी तो ये उस उद्देश्य की पूर्ति में सहज ही सफल हो गये जिसके लिए अनथक प्रयास करके भी कबीर प्रायः असफल रहे। श्री यज्ञदत्त शर्मा के शब्दों में—“सूफी धर्म का प्रसार भारत में पूर्णतया शान्ति और अहिंसा के सिद्धान्तों पर चलकर हुआ। यह इस्लाम का वह रूप नहीं था जो तलवार की धार पर

चलकर या रक्त की सरिता में बहकर भारत-भूमि पर आया हो। प्रेम, आत्मीयता, सरलता और सच्चरित्रता के सहारे यह विचारधारा भारत में फैली और इससे इस्लाम के प्रसार में योग मिला। यह स्थायी योग था जिसने जनता के दिलों में घर किया। किसी भय या आतंक के कारण इसका प्रसार नहीं हुआ।”^१

भारतीय साहित्य पर इस धर्म का प्रभाव स्पष्ट है। हिन्दी-काव्य और भक्ति की प्रेमाश्रयी शाखा में सर्वाधिक योग इन मुसलमान सूफी कवियों का ही है। इसमें सन्देह नहीं कि इन सूफी कवियों ने अपने काव्य का मूल्य उद्देश्य सूफीमत का प्रचार ही रखा, फिर भी उनके द्वारा भाषा का पर्याप्त उपकार भी हुआ और तत्कालीन वातावरण को देखते हुए हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य भावना में योग मिला। दो संस्कृतियों का एक-दूसरे से अत्यधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित हुआ, परस्पर आदान-प्रदान हुआ और प्रेम की महत्ता का सर्वसाधारण में व्यापक प्रसार हुआ। इन सूफी कवियों ने प्रेम के जिस एकान्तिक रूप का चित्रण किया है, वह भारतीय साहित्य में बिलकुल नई चीज है। भारतीय काव्य-साधना में प्रेम की ऐसी उत्कट तन्मयता यदि असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य थी। विरह का वर्णन करने में ये कवि कमाल करते हैं। ये कथा—कथा के लिए नहीं कहते; इनका लक्ष्य अपने धर्म के आधार पर भगवत्प्राप्ति रहता है। इसीलिए भगवान् के विरह में जीवात्मा की तड़पन का ये बड़ी सजीवता के साथ वर्णन करते हैं। जायसी का पद्यावत इस परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। हिन्दी-साहित्य के प्रबन्ध काव्यों में रामचरितमानस के बाद सभी दृष्टियों से इसीका स्थान है। हिन्दी का यह एक प्रभावान् रत्न है जिसकी कान्ति अनन्तकाल तक बनी रहेगी और उसके प्रकाश में मानव अपने हृदय का प्रतिबिम्ब देखता रहेगा।

जायसी का युग

प्रत्येक कवि के काव्य पर तथा उसमें निहित सन्देश और विचारधाराओं पर उसके युग का, तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में अवश्य पड़ता है। इसी तथ्य को अंग्रेजी साहित्य के सफल कवि और महान् आलोचक श्री मैथ्यू आर्नाल्ड के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि कवि और युग परस्पर प्रतिक्रियावादी हैं।^१ युग का तात्पर्य तत्कालीन राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और साहित्यिक, परिस्थितियों से है। जायसी के काव्य और साहित्य पर भी इन सबका अपना-अपना प्रभाव है। अतः जायसी-साहित्य का सम्यक् अध्ययन करने के लिए इनकी पृष्ठभूमि से परिचित होना नितांत आवश्यक है।

राजनैतिक परिस्थिति

हर्ष का साम्राज्य आर्यों का अंतिम सुदृढ साम्राज्य था। उसके अवसान पर देश में अनेक छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हो गई। इनके शासक योग्य, प्रतिभासम्पन्न तथा वीर होते हुए भी स्वार्थपरता के नाते राष्ट्रहित की ओर ध्यान नहीं दे सके। ऐसी ही परिस्थिति में, नवीन धार्मिक आवेश से अनुरक्त और लूट के लिए लालायित तथा सुसंगठित इस्लामी सत्ता ने भारत में प्रवेश किया। कुछ वीर शासकों ने उसका सामना करना चाहा, परन्तु आपसी फूट के कारण वे अपने प्रयत्न में असफल रहे। विधाता की दृष्टि भारत के प्रतिकूल तथा विदेशियों के अनुकूल थी। फलस्वरूप उनकी जड़ें जमने लगीं और आतंक बढ़ चला। हिन्दुओं के सामने ही उनके मंदिर और देवालय गिराये जाते, देवताओं की मूर्तियाँ विनष्ट की जातीं और उनकी धार्मिक पुस्तकें जला दी जातीं। निरपराध स्त्रियों और बच्चों के साथ अमानुषिक और नृशंस्तापूर्ण व्यवहार किया जाता। नारियों की इज्जत लूटी जाती और विविध प्रकार से उन्हें अपमानित किया जाता, पर हिन्दू जनता मूक और अंध बनी भीतर-ही-भीतर विष का घूंट पी लेने तथा उससे उत्पन्न व्यथा को सह लेने के अतिरिक्त किसी प्रकार का विरोधी कदम नहीं उठा सकती थी। जिसने सिर उठाया, उसे वहीं दबा दिया गया या उसका सिर धड़

१. Poet and age react upon each other.

से अलग कर दिया गया। दिल्ली सम्राट् महाराज पृथ्वीराज अन्तिम हिन्दू राजा हुए जिनके अस्त के साथ भारतीय गौरव और धीरता भी अस्त हो गई और मुसलमानों का भारत पर एकाधिपत्य हो गया।

तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक मुस्लिम साम्राज्य यदा-कदा उथल-पुथल के साथ चलता रहा। फिरोज की मृत्यु के बाद तैमूरी आक्रमण (१४५५ वि०) ने उसकी जड़ों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। सिकंदर लोदी ने कुछ सीमा तक स्थिति संभाली, किन्तु उसके उत्तराधिकारियों की अयोग्यता से देश के नवाब, राजा तथा सूबेदारों में विरोध और विद्रोह के भाव आ गए। ठीक इसी समय बाबर ने आक्रमण किया। उसे अपने आक्रमण में सफलता मिली। इब्राहीम लोदी बुरी तरह पराजित हुआ। राजपूतों में अभी कुछ वीरता शेष थी, इसलिए १५२७ ई० में राणा सांगा के नेतृत्व में उन्होंने कनवाहा का प्रसिद्ध युद्ध किया, किन्तु विधि के प्रतिकूल होने से बाबर फिर विजयी हुआ। राजपूतों की हिम्मत टूट गई। चन्देरी के मेदिनीराव ने भी बाबर से लोहा लिया। तत्पश्चात् अफगानों की सम्मिलित शक्ति से १५२९ ई० में घाघरा के मैदान में बाबर को भयंकर युद्ध करना पड़ा। सर्वत्र वह विजयी ही हुआ। सन् १५३० ई० में उसकी मृत्यु हो गई। हुमायूँ राज्य के साथ-साथ कठिनाइयाँ भी उत्तराधिकार में लेकर गद्दी पर बैठा। उसके राज्य की स्थिति ढाँवाडोल थी। सन् १५३९ में उस पर अफगानों ने शेरशाह के नेतृत्व में पुनः धावा बोल दिया। चौसा के युद्ध में हुमायूँ पराजित हुआ और भागकर ईरान की शरण ली। उसके किसी भी भाई ने आश्रय नहीं दिया। शेरशाह जब तक रहा उसने बड़ा सुन्दर शासन-प्रबन्ध चलाया, उसकी मृत्यु के उपरान्त अफगानी शासन भी डगमगाने लगा। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि सन् १५५५ ई० में हुमायूँ ने अपना खोया हुआ राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। मुगल साम्राज्य की जड़ जम गई। अब मुगल परदेशी न रह कर पूर्णतः भारतीय बन गये।

इस राजनैतिक उथल-पुथल का प्रभाव जायसी और उनके साहित्य पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा। अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक वे इस हलचल से प्रभावित होते रहे और युग के अनुकूल उन्होंने अपने साहित्य को दिशा दी।

सामाजिक परिस्थिति

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज की गतिविधि से उसका जीवन प्रभावित रहता है। समाज से अलग मनुष्य की सत्ता ही नहीं है। उसके स्वाभाविक और बहुमुखी विकास के लिए समाज का होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिए अरस्तू ने कहा है कि “समाज से रक्षित मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। नियम और न्याय से

उच्छृङ्खल मनुष्य अति भयावह जंतु है।^१ समाज एक प्रगतिशील और प्राकृतिक संगठन है जिसका आयोजन मनुष्य के उत्तरोत्तर विकास और बुद्धि में सहायक है।

दो समाजों का जब सम्मिलन होता है तो वे परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित भी होते हैं। विदेशी मुस्लिम समाज ने जब भारत में प्रवेश किया तो उसका प्रभाव भारतीय समाज पर पड़ा और भारतीय समाज का उस पर। मुस्लिम समाज विजेता समाज था और भारतीय समाज विजित। ऐसी अवस्था में मुस्लिम समाज का मनमाना व्यवहार और अत्याचार भारतीय समाज के साथ हुआ। हिन्दुओं के हृदय में राजनैतिक पराभव से भारी भय उत्पन्न हो गया था। विजेताओं के आतंक ने उनके धीरज को डगमगा दिया था। हिन्दुओं के सामने अब अपने अस्तित्व का भी प्रश्न था। मुसलमान अपनी सत्ता के साथ जब धर्म प्रचार भी करने लगे, तब तो समाज की स्थिति और भी विषम हो उठी। हिन्दुओं में मुसलमानों से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी; और न वे सामाजिक और धार्मिक विद्रोह ही कर सकते थे। अपने धर्म और सामाजिकता पर होते हुए अत्याचार को चुपचाप सह लेने के अतिरिक्त उनके पास और कोई चारा भी तो नहीं था। मुसलमानों में बहुमुखी संकीर्णता थी और हिन्दुओं में इसके विपरीत विशाल उदारता। मुस्लिम-समाज ने राजनैतिक सत्ता की आड़ में हिन्दुओं की उस उदारता और सरलता का अनुचित लाभ उठाना आरम्भ किया। राजनैतिक दासता के साथ हिन्दुओं का सामाजिक पतन भी होने लगा। वे राज्य के शत्रु समझे जाते थे और उन्हें उच्चाधिकारों से वंचित रखा जाता था। अलाउद्दीन ने मुग़िसुद्दीन से कहा था कि “जब तक हिन्दू निर्धन नहीं हो जायेंगे तब तक वे किसी तरह नम्र और आज्ञाकारी नहीं बनेंगे।” इस तरह हिन्दुओं की आर्थिक स्थिति निरंतर बिगड़ती गई। अलाउद्दीन से पूर्व की दशा भी बड़ी ही विषम और कष्टनाशक रही है। अलाउद्दीन ने राजनैतिक और सामाजिक सस्ती तो रखी, किन्तु धर्म पर विशेष आक्षेप नहीं किया। इस सस्ती का परिणाम यह हुआ कि सारी जनता रोटी का प्रश्न हल करने में इस तरह उलझ गई कि उसे विद्रोह का अवसर ही न मिल सका। ख़ुसरो ने हिन्दुओं के प्रति उदार नीति का व्यवहार किया और प्रथम दोनों तुग़लकों ने भी हिन्दुओं के प्रति कठोरता न दिखाई। फ़िरोज और सिकन्दर लोदी के समय में पुनः हिन्दुओं की सामाजिकता पर भारी आघात होने लगा।

इस प्रकार दोनों समाजों का तीन-चार शताब्दियों तक संघर्ष चलता रहा। इस बीच विजयी मुसलमानों ने विजित हिन्दुओं की कुछ बातें अपनाई और हिन्दुओं

१. “Men perfected by society is the best of all animals, he is the most terrible of all when he lives without law and without justice”

ने भी नये शासकों को प्रसन्न करने के लिए, रोटी की समस्या को हल करने के लिए, तथा अपनी सुरक्षा के लिए मुसलमानों की कुछ बातों को अपना लिया । पर्दे का, प्रचार चल निकला । सती-प्रथा भी प्रचलित थी । समाज में जादू-टोने का महत्व बढ़ा । काफी दिनों से एक साथ रहने से हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर भाईचारे का सम्बन्ध दृढ़तर हुआ । अब हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के सामने अपना हृदय खोलने लगे । जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली । मुसलमान हिन्दुओं की रामकहानी सुनने को तैयार हो गए और हिन्दू मुसलमानों का दास्तान हमजा । नल और दमयन्ती की कथा मुसलमान जानने लगे और लैला-मजनू की हिन्दू । ईश्वर तक पहुँचनेवाला मार्ग ढूँढने की सलाह दोनों कभी-कभी साथ बैठकर करने लगे । इधर भक्ति मार्ग के आचार्य और महात्माओं ने भगवत्प्रेम को सर्वोपरि ठहराया । उधर सूफी महात्माओं ने मुसलमानों को इश्क हकीकी का सबक पढ़ाया । पन्द्रहवीं शताब्दी में समाज के रूप में काफी परिवर्तन आ गया था । राजनैतिक वातावरण एकदम शान्त हो गया था और सामाजिक वातावरण में काफी मेल-मिलाप का भाव उत्पन्न हो गया था । हिन्दू और मुसलमान दोनों ने यह जान लिया था कि उन्हें अपना जीवन इस भारत वसुन्धरा पर ही व्यतीत करना है । इसलिए अधिक मात्रा में सामाजिक भिन्नता रखने से जीवन कभी भी सुखमय नहीं हो सकेगा । पन्द्रहवीं शताब्दी के भारतीय मुसलमानों की यह प्रवृत्ति हो गई थी कि वे अपने पड़ोसी हिन्दुओं से मेल-मिलाप करें । हिन्दू बेचारे तो पराजित, असहाय और परवश थे ही । उन्हें जैसे भी रखा जाता, वैसे ही रहने के लिए वे विवश थे । मेल-मिलाप की इस प्रवृत्ति को एक ओर हुसेनशाह आदि मुसलमानों ने और दूसरी ओर चैतन्य, रामानन्द, कबीर आदि हिन्दू साधुओं ने बहुत अधिक प्रेरणा दी ।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ

भारत अपनी सम्यता और संस्कृति की प्राचीनता एवं महानता में विश्व का अग्रणी देश है । हमारा ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम और सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है । यहीं समस्त कलाओं और और विज्ञानों ने जन्म लिया, और यहीं से वे विश्व के अन्य भागों में फैले । विदेश से आनेवाले यात्रियों ने अपने यात्रा-विवरणों में भारत की महानता का विशद वर्णन किया है । यहाँ का जीवन सादा, पवित्र तथा आडम्बरहीन रहा है । शुद्ध सात्विक सत्याचरण यहाँ की मनुष्यता की कसौटी है । यही कारण है कि यहाँ का जीवन विश्रुंखल न होकर एक निर्द्विष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर रहा है ।

भारतीय प्राचीनता-प्रिय होते हुए भी भिन्न-भिन्न जातियों और व्यक्तियों के आचार-विचार तथा धर्म-सम्बन्धी विभिन्नताओं को स्वीकार करते हैं । ये विभिन्नताएँ प्रगति और विकास के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य हैं । इसी नाते भारतवासी

जाति-व्यवस्था के अटूट बन्धन में बँधे रहने पर भी विभिन्न व्यक्तियों के धर्म, संस्कृति तथा स्वभाव को घृणा या क्षोभ की दृष्टि से नहीं देखते। फलतः मुसलमानों से पूर्व जितनी जातियाँ आई, वे सब यहाँ के वातावरण में घुल-मिल गईं, वे सर्वथा भारतीय बन गईं। भारत ने उनका स्वागत किया। उनके आचार-विचार, धर्म और स्वभाव भारतीय संस्कृति में घुल-मिल गए। सामंजस्य की भावना भारतवासियों की प्रमुख विशेषता है।

सिन्ध-विजय के पश्चात् भारत का इस्लाम से सम्पर्क हुआ। विजयी होकर भी प्ररबों ने सम्यता तथा विद्या आदि के लिए भारत के सम्मुख मस्तक झुकाया। भारत ही सम्यता ने उसके लिए अपना कोष खोल दिया। अरबों द्वारा भारतीय सम्यता का प्रचार समस्त योरूप और मिश्र में हुआ, किन्तु जब मुस्लिम-सम्यता के साथ दूसरी बार संघर्ष हुआ तो उस समय जो विचार इस्लाम धर्म में प्रविष्ट हो चुके थे, वे भारतीय होकर भी पराये हो गए। इस बार का मुस्लिम बड़ा असहिष्णु, कुरान तथा इस्लाम के सिवाय अन्य समस्त पुस्तकों तथा धर्मों की आवश्यकता न समझनेवाला, वजय की मादकता में विवेकहीन और भारत की सम्पत्ति की चकाचौंध से प्रायः अंधा होकर आया था। उसका यह सिद्धान्त था कि विजित जातियों की विचारधारा, आचार-विचार विश्वास तथा धर्म आदि को मिटा देना चाहिए। इस मुस्लिम-विजय ने बड़ी उथल-पुथल मचा दी। हिन्दू-धर्म को बड़ा धक्का लगा, पण्डितों और पुरोहितों का सत्कार उठ-सा गया। हिन्दू-स्मारक नष्ट कर दिये गए। बिना राजाश्रय के साहित्य प्रपन्नावस्था को प्राप्त हुआ। हिन्दुओं की राजनीतिक पराजय भारतीय संस्कृति के लिए कटुतम अभिशाप सिद्ध हुई।

धीरे-धीरे काल की कठोर आवश्यकताओं के साथ दोनों संस्कृतियों का संघर्ष कम हुआ, परस्पर मेल-मिलाप बढ़ा। एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न चला। कला कौशल, आचार-व्यवहार सबमें एक-दूसरे की छाप पड़ने लगी। हिन्दुओं के इस काल के मन्दिरों और भवनों में नवीनता का पुट लक्षित होता है। चित्रकला में भी वास्तु-कला की भाँति नवीनता है। हिन्दू-पण्डितों और ज्योतिषियों ने मुसलमानों से अनेक बातें सीखीं। भरेलू व्यवहार, पहनावे, संगीत, मेला, उत्सव तथा दरबारी ढंग आदि पर मुसलमानी प्रभाव अधिक पड़ा। सामान्यतया बाहरी जो बातें एक संस्कृति में मिल सकती थीं, मिलीं। इससे सामाजिक वातावरण में काफी शान्ति आई। परस्पर प्रेम-भावना बहुत कुछ सीमा तक दृढ़ तो हुई पर भारतीय संस्कृति की मूल धारा अविच्छन्न गति से प्रवाहित होती रही।

धार्मिक परिस्थितियाँ

भारत धर्म-प्रधान देश है। यहाँ प्रारम्भ से ही जीवन, धर्म और दर्शन का

समन्वय रहा है। आर्य-धर्म में कर्म, ज्ञान और उपासना का महत्वपूर्ण योग था। कालान्तर में कर्मकांड की प्रतिष्ठा बढ़ चली। फिर उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप जैन और बौद्ध-धर्म का आविर्भाव हुआ। इन धर्मों में अछूतों के लिए विशेष आकर्षण था। राजाश्रय पाकर बौद्ध-धर्म का खूब प्रचार रहा, किन्तु समय के परिवर्तन ने उसमें भी अवरोध उत्पन्न करना प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे इस धर्म का वातावरण भी दूषित हो चला, जिसके फलस्वरूप उसकी पवित्रता से लोगों का विश्वास उठने लगा। दूसरी बात यह भी थी कि बौद्ध-धर्म का नास्तिकवाद भारत की प्रकृति के विरुद्ध था और उसकी अहिंसा क्षत्रियों को अरुचिकर थी। ऐसी ही डाँवाडोल परिस्थिति में जगद्गुरु शंकराचार्य ने बड़ा प्रबल विरोध किया और उसकी धज्जियाँ उड़ा दीं। बौद्ध-धर्म को भारत में कहीं प्राण न मिला। उसका द्रुतगति से पतन होने लगा। हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान हुआ और वेद तथा उपनिषदों की नवीन व्याख्याएँ चल पड़ीं। इस नवीन हिन्दू-धर्म में जैन, बौद्ध आदि सभी धर्मों का सार तत्त्व निरूपित था। ईसा की सातवीं-आठवीं शती में शिव, विष्णु तथा अन्य देवताओं की पूजा का सारे देश में प्रचार हो गया। भक्ति की महिमा बढ़ चली।

भक्ति-आंदोलन

शंकराचार्य उत्तरी भारत में अपनी भक्ति का प्रचार कर रहे थे। वे अद्वैत के समर्थक थे। दक्षिणी भारत में रामानुजाचार्य के नेतृत्व में अद्वैत का विरोधी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उन्होंने नवधा भक्ति का बड़ा ही मनमोहक स्वरूप हिन्दू-जनता के समक्ष रखा जिससे वह मिस्मय-विमुग्ध हो गई। हिन्दू-धर्म में एक नवीन चेतना जागी। और उन्हें अदभुत आलम्बन प्राप्त हुआ। दक्षिणी भारत का यह भक्ति-आन्दोलन शुद्ध हिन्दू-धर्म से अनुमोदित था, इसलिए यह हिन्दुओं को अपेक्षाकृत अधिक आह्वान हुआ। बौद्धों के दुःखवाद से ऊबी तथा राजनैतिक विफलता से त्रस्त जनता भक्ति की ओर उमड़ पड़ी।

रामानुजाचार्य की वैष्णव भक्ति केवल उच्च वर्ण के लिए ही थी। शूद्र उसके अधिकारी न थे, किन्तु इनके शिष्य रामानन्द ने इस भेदभाव को मिटा दिया और उसे समस्त मानव-जाति के लिए हितकारी बताया। उन्होंने अपने उपदेश की भाषा हिन्दी रखी। रामानन्द ने विष्णु के स्थान पर राम-भक्ति का प्रचार किया। भगवान राम की लीलाओं, उसके लोक-रक्षक रूप तथा भक्तवत्सलता से जनता पूर्ण परिचित थी। इस प्रकार भक्ति-मार्ग अधिक सुगम हो गया। लगभग इसी समय बारहवीं शताब्दी में वृन्दावन में निम्बार्क ने वैष्णव भक्ति का प्रचार किया जिनकी रास-लीलाओं से जनता का मनोरंजन हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि चौदहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण भारत में भक्ति-भावना पूर्णरूप से फैल चुकी थी। इस आन्दोलन

से प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति हुई, जाति-बन्धन शिथिल हुए, गार्हस्थ्य जीवन में पवित्रता आई, स्त्री-पद उन्नत हुआ और लोगों में उदारता तथा सहिष्णुता फैली।

इस्लाम और भारत

इस्लाम विश्वास का धर्म है। इस धर्म के अनुयायी ईश्वर-प्रेम की अपेक्षा ईश्वर प्रकोप से भयभीत होकर उसके सन्देशों पर विश्वास करते हैं। इस्लाम की नींव ही इलहाम, (ईश्वरी सन्देशों) पर है। विद्वान् खलीफा हारूँ रशीद ने भारतीय विद्वानों को अपने यहाँ निमन्त्रित कर अनेक दर्शन और अन्य उपयोगी ग्रन्थ अरबी भाषा से अनूदित कराये थे। इस प्रकार भारत-प्रवेश से पूर्व ही इस्लाम पर भारतीय दर्शन और धर्म (विशेषतः बौद्ध-धर्म) की छाप पड़ चुकी थी।

६३६ ई० में मुसलमान व्यापारी मालाबार तट पर समुद्र-मार्ग से आये। भारतवासियों ने उनका स्वागत किया और उन्हें अनेक सुविधाएँ प्रदान कीं। धीरे-धीरे इन मुसलमानों ने अपना धर्म-प्रचार आरम्भ किया। आठवीं शती में मुहम्मद-बिन-कासिम की सिन्ध-विजय के साथ इस्लाम-धर्म सारे उत्तरी भारत में फैलने लगा। सिन्ध-विजय के साथ ही 'मुल्तान', तसब्बुफ का केन्द्र तथा फकीरों का अड्डा बन गया। ये सूफी और फकीर देहातों में फ़ैलकर इस्लाम के प्रचार में जुट गए। वैसे हिन्दुओं को इस धर्म में कोई आकर्षण नहीं था, परन्तु ग्यारहवीं सती में जब इस्लाम तलवार के बल पर फैलने लगा तब परिस्थिति विषम और अनियन्त्रित हो गई। इस्लाम धर्म विजयनी सत्ता का धर्म था, इसलिए उसके प्रचार में सारी शक्ति लगा दी गई। व्यक्तिगत स्वार्थ और प्रलोभन से कुछ हिन्दू इधर खिंच आए। इसके अतिरिक्त अछूत-वर्ग की हिन्दू-धर्म के प्रति असन्तुष्टि ने भी इस धर्म के प्रचार एवं प्रसार में काफी सहायता पहुँचाई। अछूत वर्ग इधर आकृष्ट हुआ। तलवार के जोर से, प्रलोभन के बल से और अछूतों की असन्तुष्टि से इस्लाम का प्रचार हुआ। वैसे स्वेच्छा से बहुत कम लोगों ने इस्लाम को अपनाया।

इस प्रकार कई शताब्दियों तक संघर्ष चलता रहा। कुछ मूलभूत सिद्धान्तों और उनके व्यवहार में विशेष अन्तर होने के कारण विशाल हिन्दू-धर्म भी, जिसने बौद्ध-धर्म जैसे महान् धर्म को हजम कर 'बुद्धजी' को अपने अवतारों में सम्मिलित कर लिया था, इस्लाम को अपने में न मिला सका। किन्तु काफी दिनों के साहचर्य के उपरान्त दोनों धर्मों में कट्टरता का आग्रह कुछ कम हो गया। मुसलमान भी जान गये कि अब हम पूर्ण भारतीय हैं। सूफियों ने हिन्दुओं की बातें अपने सहधर्मियों तथा अपनी बातें हिन्दुओं को समझानी आरम्भ कीं। फलतः दोनों एक-दूसरे के समीप आने लगे। मजार, दर्शन, मनौती और नजूम हिन्दू-जीवन में घुल-मिल गए। चौदहवीं शताब्दी के आगे तो नामदेव और नानकदेव की शिक्षाओं में हिन्दू तथा

मुस्लिम विचारों का पूर्ण सामंजस्य है। उन्होंने जाति-व्यवस्था, बहुदेववाद तथा मूर्ति-पूजा की कड़ी भर्त्सना की और सत्य एवं पवित्र जीवन का उपदेश दिया। रामानन्द और चैन्यतदेव भी साधारण अन्तर से इसी पथ के पथिक बने। हिन्दुओं ने इस दिशा में काफी प्रयत्न किया, यद्यपि संकीर्ण विचारों के नाते मुसलमान अपनी सीमा से अधिक आगे नहीं बढ़ सके।

बंगाल में गौड़ के सम्राट् हुसेनशाह द्वारा संस्थापित एक सम्प्रदाय विशेष चला, जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे और एक ही देवता 'सत्य पीर' की पूजा करते थे। महाराष्ट्र में भी संतों ने वही काम किया जो उत्तरी भारत में कबीर और नानक ने किया। पन्द्रहवीं शताब्दी तक मुसलमान सूफी और फकीर पूरे पंजाब में फैल चुके थे। पानीपत, सरहिन्द, पाकपट्टन तथा मुत्तान आदि सूफियों के प्रसिद्ध केन्द्र बन चुके थे। यहीं पर सूफी सम्प्रदाय नाथपंथियों के भी सम्पर्क में आया और उसने उससे अनेक बातें ग्रहण की। इस क्षेत्र में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रबल प्रचार हुआ। नानकदेव का प्रमुख ध्येय ही हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य था। वे किसी एक धर्म या जाति के नहीं थे, वरन् समस्त संसार के थे। उनका धर्म नितान्त क्रियात्मक, शुद्ध और सूफी सिद्धान्तों के अनुरूप था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानन्द के भक्ति-मार्ग में, नानकदेव के सिक्ख संप्रदाय में, गोरखनाथ के नाथ-पंथियों में, बंगाल के सत्यपीर-वादियों में, कबीर, दादू आदि पंथियों में, और महाराष्ट्र के अन्य संतों में हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना कार्य कर रही थी। जाति-व्यवस्था की कठोर पाबंदी सबको असह्य हो रही थी तथा "हरि को भजे सो हरि का होई" की भावना का प्राधान्य था। बहुदेववाद के स्थान पर ऐकेश्वरवाद का प्रचार हुआ जो अद्वैतवाद से मूलतः भिन्न है। गुरु का स्थान लगभग ईश्वर के बराबर ही महत्वपूर्ण समझा गया —

“गुरु गोविन्द दोनों खड़े, का के लागू पाँय।

बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द बियो बताय ॥”

“अतः गुरु भक्ति चल पड़ी। गुरु-मुख से उपदेश का महत्व स्थापित हुआ। साधु-संतों और फकीरों का महत्व बढ़ा और साथ ही समाधि-दर्शन, भाड़-फूक, नजूम, करामात आदि में भोली जनता का विश्वास जगा। जन साधारण में सूफी फकीर, कनफटे जोगी, बंणव भक्त ही नहीं, अपितु समस्त भगवां वस्त्रधारी व्यक्ति श्रद्धा के पात्र हुए और सत्कार के अधिकारी। सारांश यह है कि सोलहवीं शताब्दी तक प्राचीन धार्मिक तथा सामाजिक बंधन शिथिल पड़ गए थे। ऐक्य ही सबका लक्ष्य था और जनता में श्रद्धा एवं विश्वास का स्रोत उमड़ पड़ा था।”

साहित्यिक परिस्थितियाँ

वीरगाथाकाल की समाप्ति से पूर्व ही साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति आरम्भ हो गई थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने जनता के साथ साहित्य को भी अस्थिर कर दिया था। मुसलमानों की शक्ति और धर्म के विस्तार ने साहित्य का दृष्टिकोण बदल दिया था और हिन्दी-साहित्य की धारा अपने पुराने उद्यम तथा ओजस्वी वीरगाथात्मक रूप को छोड़कर भक्ति की प्रशान्त कलित कविता के रूप में प्रवाहित होने लगी थी। चारणों की रचनाएँ धीरे-धीरे कम होती जा रही थीं। राजाश्रय समाप्त होने लगे थे। युद्ध-क्षेत्र से पराजित और अपनी जनता की रक्षा में असमर्थ राजाओं की प्रशस्तियाँ अब ये कवि किस मुँह से गाते। निदान साहित्य को राज-दरबार को छोड़कर जंगलों तथा कुटियों में आश्रय लेना पड़ा। इस प्रकार साहित्य की मूल धारा ही बदल गई। वस्तुतः वीरगाथाकाल के साहित्य में साधारण जनता के काम की कोई चीज नहीं थी। इस नाते भी वीरगाथाकालीन साहित्य अधिक लंबा जीवन न प्राप्त कर सका। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक मुसलमानों का राज्य भारत में पूर्णरूप से स्थापित हो गया था। और अब उनमें यह निश्चित धारणा आ गई थी कि हम भारतीय हैं। हमें अपना जीवन इसी भूमि में व्यतीत करना है। ऐसी दशा में उन्होंने हिन्दुओं से सान्निध्य और उनके जीवन से सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न आरम्भ किये। दोनों ही धर्मों को माननेवाले समझदार व्यक्ति अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों की खोज-बीन करके सिद्धान्तों को प्रकाश में लाने लगे। उन बातों का प्रचार बढ़ चला जिनके आधार पर परस्पर मैत्री-भाव दृढ़ हो सकता था। इस दिशा में अमीर खुसरो ने बड़ा सराहनीय कार्य किया। उन्होंने जन-साधारण तथा शासकों के बीच सहयोग स्थापित कराने के लिए, हिन्दी फारसी शब्दकोष तैयार किया और उसकी प्रतियाँ सारे देश में बटवा दी। साथ ही मनोरंजन का साधन भी जुटाया। प्रचलित पहेलियों, मुकरियों आदि के अनुकरण पर प्रचलित भाषा में उन्होंने बड़ी सरस कविता भी की। उनके द्वारा भाषा का बड़ा उपकार हुआ। हिन्दी और फारसी दोनों के मिश्रण से उन्होंने एक ऐसी भाषा तैयार की जो हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही ग्राह्य और मनमोहक लगी। उनकी यह भाषा खड़ी बोली का प्रारम्भिक स्वरूप प्रस्तुत करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार उस समय की वास्तुकला तथा संगीतकला में, समाज तथा धर्म में, हिन्दू-मुस्लिम आदर्शों के सम्मिलन की भावना कार्य कर रही थी, उसी प्रकार भाषा और साहित्य में भी वही ऐक्य-भावना अग्रसर हो रही थी।

इस हिन्दू-मुसलिम ऐक्य-भावना को गति देने में कबीर के काव्य का बड़ा महत्वपूर्ण योग है। कबीर के अतिरिक्त अन्य सन्तों ने भी इस दिशा में प्रशंसनीय

कार्य किया। कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम मनोमालिन्य को मिटाने के लिए कुछ कठोरता से प्रहार किया। वस्तुतः उनका काल संक्रान्ति का काल था। राजनीति, समाज और धर्म के क्षेत्र में सर्वत्र अशान्ति तथा अव्यवस्था थी; इसीलिए कबीर को सभी दिशाओं में क्रान्ति करनी पड़ी। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों, पंडितों और पीरों, सिद्धों और फकीरों को उनके पाखंड तथा ढोंग के लिए बुरी तरह फटकारा, धर्म की मूल बातों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया और इस प्रकार एक ऐसे सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा की जो सबको ग्राह्य हो सकता था। उन्होंने यदि हिन्दुओं के तीर्थ, व्रत, मठ, मंदिर और पूजा आदि की निंदा की तो मुसलमानों के नमाज और मस्जिद की भी खूब खबर ली; और इस प्रकार दोनों की बुराइयों का दिग्दर्शन कराके उन्होंने कहा—

“अरे इन दोउन राह न पाई।

हिन्दुन की हिन्दुआई देखी, तुरकन की तुरकाई।”

इसके साथ ही उन्होंने राम-रहीम की एकता का प्रतिपादन करते हुए बताया ‘अल्ला राम की गति नहीं तहँ कबीर ल्यो जाय’—अर्थात् राम-रहीम के विवाद से ऊपर उठकर इनसे परे एक अव्यक्त सामान्य शक्ति या सत्ता की ओर उनका संकेत था। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के आधार पर इस सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा के साथ हिन्दुओं की जाति-पाति और छुआछूत का विरोध करके उन्होंने अहिंसा, तप, सत्य, सुजनता तथा अन्य मानवीय गुणों के विकास पर जोर दिया। उन्होंने शुद्ध भाव से अपने सिद्धान्तों और विचारों का प्रकाशन किया।

जहाँ तक कबीर की रचनाओं के साहित्यिक मूल्य का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिए कि उन्होंने ‘मसि कागद’ तक नहीं छुआ था और न हाथ में ‘कलम गही’ थी, उन्होंने तो प्रेम का केवल ढाई अक्षर पढ़ा था और उसीसे वे पंडित हुए थे। उनका काव्यानुभव सत्संगति एवं परिभ्रमण से अर्जित ज्ञान का अक्षय कोष है जो व्यय के साथ बढ़ता जाता है। ऐसी दशा में उनके काव्य को शास्त्रीय कसौटी पर कसना कवि के साथ अन्याय करना होगा। कबीर ने साहित्यिक मर्यादा का अतिक्रमण भले ही किया हो, किन्तु उन्होंने जो संदेश दिया है वह इस थोथी मर्यादा से बहुत ऊँचा है। अनपढ़ और क्रान्तिकारी कबीर के लिए यही उपयुक्त भी था। कबीर अनेकत्व, भेद से अभेद की ओर ले जानेवाले कवि थे। उनके युग की माँग ही थी—समन्वय, ऐक्य और मेल-मिलाप। इसीलिए कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों के भूटे प्रतिबन्धों, असंगत विचारों और थोथे सिद्धान्तों की कड़ी भर्त्सना की। वे केवल सत्य और सर्वहित के प्रतिपादक थे। इस नाते वे नीरस लगे। उनके अवखड़ व्यक्तित्व ने उन्हें और भी कटु बना दिया। उनकी उक्तियाँ चुभती हुई थीं, क्योंकि उनमें कटु सत्य का प्रकाश था; किन्तु व्यंजना तीखी होने के कारण वे

सर्वसाधारण को ग्राह्य न हो सकीं। उनके प्रहार से लोग तिलमिला उठे। वस्तुतः इस समय ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो जनता के व्यथित हृदय को अपने स्नेह-स्पर्श से सुख और शांति पहुँचा सकता; उनके जीवन में आशा, विश्वास, नवचेतना और सरसता का संचार कर सकता। यह कार्य सूफी काव्यकारों ने सम्पन्न किया।

मुसलमानों को भारत में आये लगभग आठ शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। इस लम्बी अवधि में वे हिन्दुओं के जीवन की गतिविधि से पूर्ण परिचित हो चुके थे। इसलिए साहचर्य ने दोनों के सामाजिक और धार्मिक स्वरूप में काफी परिवर्तन कर डाला। दोनों एक-दूसरे को अत्यधिक निकट से परख चुके थे, इसलिए अब वे परस्पर मिल-जुलकर जीवन-यापन करने के पक्ष में हो गए थे। शासन मुसलमानी था इससे मुसलमानों के आमोद-प्रमोद के साथ ही मुसलमानी सिद्धान्तों का प्रचार भी हुआ जो आख्यानक कवियों की धर्म-गाथाओं में प्रस्फुटित हुआ। प्रेम-गाथाकारों में प्रायः सभी मुसलमान थे, परन्तु उनकी विशेषता यह रही है कि उन्होंने कहानियाँ हिन्दू राजघरानों से लीं। उन्होंने जनता की रुचि और शासकों के आकर्षण, दोनों का ध्यान रखा। इन कहानियों की सरसता ने मुस्लिम शासकों को अपनी ओर आकृष्ट किया। परिणाम स्वरूप इन कवियों को भी दरबार में अन्य कलाकारों की भाँति उचित सम्मान मिलने लगा। इनकी कहानियों में शृंगार और करुण को विशेष प्रश्रय मिला और लौकिक कथा के माध्यम से पारलौकिक या परमसत्ता के प्रति इन कवियों ने अपने प्रेम और विरह का वर्णन प्रस्तुत किया। अन्योक्ति तथा समासोक्ति का सहारा भी उन्हें इसी नाते लेना पड़ा। कहानियों के बीच-बीच में इन सूफी कवियों ने शुद्ध अध्यात्म की बड़ी सुन्दर व्यंजना की है।

इनकी कहानियों की भाषा अवध प्रान्त की बोलचाल की भाषा है और उस समय तक विशेष रूप से व्यवहृत होनेवाले छन्द, दोहे तथा चौपाइयों में इनका निर्माण हुआ है। सभी कहानियाँ प्रायः प्रबन्ध काव्यों के रूप में हैं। डा० जयदेव के शब्दों में—
“जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न इतने दिनों से भिन्न-भिन्न लोग अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने ढंग से कर रहे थे, सोलहवीं शताब्दी में उन समस्त भावनाओं का एकीकरण और भिन्न-भिन्न आदर्शों का सामंजस्य बड़े ही सरस एवं आकर्षक ढंग में सहृदयतापूर्वक उपस्थित करने का इन सूफी फकीरों ने स्तुत्य प्रयत्न किया।”



जायसी का जीवन-वृत्त

भारत के महापुरुष और महाकवि स्वभावतः बड़े संकोची तथा विनयशील रहे हैं। उनके संकोच और विनयशीलता ने प्रायः उन्हें ग्रहमन्यता के प्रदर्शन के भय से अपने विषय में कुछ भी न लिखने के लिए ही प्रेरित किया, इसीलिए चन्द, कबीर, सूर तथा तुलसी आदि अनेक महाकवियों का जीवन-वृत्त अतीत के गर्भ में निहित है। दूसरी बात यह भी है कि भारतीय मनुष्यों की प्रवृत्ति इतिहास लिखने के अनुकूल नहीं रही है। वे सदैव इस लोक से परे की ही सोचते रहे हैं। हाँ, मुस्लिम इतिहासकारों ने अपने समय के इतिहास अवश्य प्रस्तुत किए हैं जिनमें अपने आश्रयदाताओं का कीर्तिगान उनका मुख्य उद्देश्य रहा है। इस प्रकार निष्पक्ष ऐतिहासिक तथ्यों का अभाव कलाकारों के जीवनवृत्त का साक्षात्कार कराने में जिज्ञासुओं के लिए सबसे बड़ा विघ्न सिद्ध हुआ है। ऐसी दशा में किसी कवि का जीवन-वृत्त जानने के लिए अधिकांशतः अन्तः और बाह्य साक्ष्य का आधार तथा जनश्रुतियों और किवंदतियों का आश्रय लेना पड़ता है।

सौभाग्यवश जायसी का अंतःसाक्ष्य इस दिशा में हमारा सहायक है क्योंकि फारसी मसनवियों के अनुकरण पर उन्होंने अपनी कृतियों में अपने विषय में कुछ विवरण दिये हैं जिन्हें प्रमाण-रूप में हमें ग्रहण करना चाहिए। बाह्य साधनों में डाक्टर जयदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'सूफी महाकवि जायसी' में निम्नलिखित पाँच संकेत किए हैं:—

१. तत्कालीन ग्रंथों में जायसी विषयक संकेत।
२. सूफियों की परम्परा में जायसी का वर्णन।
३. जायस नगर के इतिहास में उनका विवरण।
४. अमेठी राज्य के इतिहास में उनका विवरण।
५. पीछे के व्यक्तियों की खोज का उनके विषय में निर्णय।

अंतःसाक्ष्य में जायसी के तीनों ग्रंथ 'पद्यावत', 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' आते हैं। अब हम इस अंतःसाक्ष्य, बहिर्साक्ष्य तथा जनश्रुतियों और किवंदतियों आदि सभी प्राप्त साधनों के वैज्ञानिक आधार पर कविवर जायसी का जीवन-वृत्त प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

जन्म-तिथि

जायसी विरचित 'आखिरी कलाम' में एक अर्द्धाली इस प्रकार है:—

“भा औतार मोर नौ सदी ।

तीस बरिस ऊपर कवि बदी ॥”

इन पंक्तियों का ठीक तात्पर्य तो नहीं खुलता, फिर भी यदि पाठ 'नव सदी' ही माना जाय तो जायसी का जन्म-काल सन् ६०० हि० (१४६२ ई० के लगभग) ठहरता है। दूसरी पंक्ति 'तीस बरिस ऊपर कवि बदी' का अर्थ यही निकलेगा कि जन्म के ३० वर्ष उपरांत जायसी अच्छी कविता करने लगे। 'आखिरी कलाम' में जायसी ने एक बड़े भूकंप तथा सूर्य-ग्रहण का अतिरंजित शब्दों में वर्णन किया है। जो इस प्रकार है:—

“आवत उद्यत चार बड़ ठाना । भा भूकंप जगत अकुलाना ॥
धरती दीन्ह चक्र विधि भाई । फिर अकास रहट की नाई ॥
गिरि पहार मेविनि तस हाला । जस चाला चलनी भर चाला ॥
मिरित लोक जेहि रचा हिडोला । सरग-पतार पवन खट डोला ॥
गिरि पहार पर्वत हिलि गए । सात समुन्द्र कीच मिलि गए ॥”

×

×

×

“सूरज सेवक वाकं अहै । आठों पहर फिरत जो रहै ॥

सो अस बपुरे गहन लीन्हा । औ धरि बँधि चंडाले दीन्हा ॥”

किन्तु तत्कालीन तथा पीछे के ऐतिहासिक ग्रंथों में इस भूकंप का कोई वर्णन नहीं मिलता। डा० ईश्वरीप्रसाद ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ *A Short History of Muslim Rule In India* के पृष्ठ २३२ पर सन् ६११ हिजरी (१५०५ ई०) में आगरे में आनेवाले एक भयंकर भूकंप की चर्चा इस प्रकार की है—

“दूसरे वर्ष (६११ हिजरी = १२०५ ई०) को आगरे में एक भयानक भूकंप आया जिसने पृथ्वी की जड़ों को हिला दिया और अनेक सुन्दर भवनों और मकानों को धूल में मिला दिया।”^१

इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि नौ-दस वर्षीय बालक जायसी ने उसे प्रत्यक्ष देखा होगा और अपने इस अनुभव को जन्म के सुने साधारण भूकंप से (सम्भव है कोई आया ही हो) सम्बन्धित कर दिया होगा।

जन्म-स्थान

‘पद्मावत’ कवि का सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है उसमें कवि ने एक स्थान पर लिखा है:—

१. “Next year (911 A. H. = 1505 A. D.) a violent earthquake occurred at Agra which shook the earth to its foundations and levelled many beautiful buildings and houses to the ground.

“जायस नगर धरम अस्थानू । तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू ।”

इस अर्द्धाली के ‘तहाँ आइ’ शब्दों ने विद्वानों को अधिक भ्रम में डाल रखा है। इनके आधार पर डा० ग्रियर्सन तथा पण्डित सुधाकर का अनुमान है कि मलिक मुहम्मद जायसी किसी और स्थान के रहने वाले थे ; जायस में आकर तो उन्होंने काव्य का सृजन किया था, परन्तु यह अनुमान अन्य अधिकारी विद्वानों द्वारा पुष्टि प्राप्त नहीं करता। इसके मान्य न होने के दो कारण हैं—एक तो यह कि जायस नगर-वाले इसे स्वीकार नहीं कर सकते। उनके कथनानुसार ‘मलिक मुहम्मद’ जायस के ही रहनेवाले थे। उनके घर का स्थान अभी तक वहाँ के कंचाने मुहल्ले में बताया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस मकान को लोग मलिक मुहम्मद का मकान बताते हैं, वह अत्यन्त ही प्राचीन तथा जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। उस घर की प्राचीनता को देख यह सहज अनुमान करना बिल्कुल स्वाभाविक है कि वह जायसी का ही घर रहा होगा। दूसरी बात यह है कि जायसी ने ‘पद्मावत’ में अपने जिन चार घनिष्ठ मित्रों का वर्णन किया है, वे चारों जायस के ही थे। ‘यूसुफ मलिक’, ‘सालार कादिम’, ‘सलोने मियाँ’ और ‘बड़े शेख’—यही चारों व्यक्ति उनके घनिष्ठतम मित्र थे। ‘सलोने मियाँ’ के सम्बन्ध में तो जायस में अभी तक यह जनश्रुति चली आती है कि वे बड़े बलवान थे। एक बार हाथी से लड़ गए थे। इन चारों दोस्तों में से दो के खानदान में एक साहब मौजूद हैं जिनके पास वंशवृक्ष भी है। यद्यपि वह वंश-वृक्ष पूर्णतः ठीक नहीं है तथापि उससे हमारे अनुमान को बल तो मिलता ही है।

‘जायस नगर धरम अस्थानू’ में ‘धरम अस्थानू’ पर जोर देते हुए डा० विमल-कुमार जैन का कहना है कि किसी भी व्यक्ति का धर्म-स्थान वही हो सकता है जो उसके लिए सर्वाधिक प्रिय और पवित्र हो। ‘जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी’ से यह प्रमाणित होता है कि किसी भी मनुष्य के लिए उसकी जन्मभूमि से प्रिय तथा पवित्र स्थान और कोई नहीं हो सकता। डाक्टर जैन ‘धरम अस्थानू’ का अर्थ-विशेष लेते हैं जिसे सामान्य तीर्थ-स्थानों की श्रेणी में नहीं खींचा जा सकता। अतः निश्चय ही जायस मलिक मुहम्मद का जन्म-स्थान रहा होगा, अन्यथा वे उसे ‘धरम अस्थानू’ न लिखते।

डा० रामरतन भटनागर यह अनुमान करते हैं कि “वे (जायसी) जायस में पहले-पहल दस दिन के लिए पाहुने के रूप में आये थे। यहीं उन्हें बैराग्य हो गया और वे यहीं रहने लगे। इस नगर का आदि नाम उन्होंने उद्यान (उद्यान+नगर या उदयनगर) बताया है। इस नगर की कुछ धार्मिक महत्ता भी उस समय रही होगी। इसी से जायसी ने उसे ‘धर्म-स्थान’ कहा है।”^१ इस प्रसंग को और भी स्पष्ट

करने के लिए मैं पाठकों का ध्यान जायसी के गंथ 'आखिरी कलाम' की इन पंक्तियों की ओर आकर्षित करना चाहूँगा —

“जायस नगर मोर अस्थानू । नगर कै नाँव आदि उदयानू ॥”

इन पंक्तियों में 'मोर अस्थानू' शब्द कवि की स्थान के प्रति दृढ़ता व्यक्त कर रहे हैं। वह एक प्रकार से स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि जायस ही मेरा स्थान है। 'नगर का नाँव आदि उदयानू' का अर्थ रायबरेली प्रान्त के गजेटियर पृष्ठ १८१ से स्पष्ट हो जाता है कि जायस का नाम 'उदयनगर' था। मुसलमानों ने इसका नाम जायस रखा जो फारसी 'जंश' (पड़ाव) से निकला है। कवि ने अपनी पूर्व पंक्ति की घोषणा को दृढ़तर बनाने के लिए ही द्वितीय पंक्ति में नगर के प्राचीन नाम की ओर भी संकेत कर दिया है।

इन सभी तर्कों के अतिरिक्त कवि के जायस के होने का सबसे बड़ा और सीधा-साधा प्रमाण यह है कि उसके नाम 'मलिक मुहम्मद' के साथ 'जायसी' जुड़ा हुआ है। जायसी वही हो सकता है जो जायस का रहनेवाला है। बंगाल के रहने वाले व्यक्ति को हम पंजाबी या मद्रासी नहीं कह सकते; और यदि कहेंगे भी तो समाज का समर्थन प्राप्त नहीं हो सकता। अतः जायसी का जन्म-स्थान जायस मानना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

अन्त में एक वाक्य में मैं यह कहना चाहूँगा कि जायसी का जन्म-काल ६०० हि० तथा जन्म-स्थान जायस है।

बाल्य-काल

जायसी के पूर्वज सम्भवतः अरब थे। सैयद कलब मुस्तफा के अनुसार इनके पिता का नाम मुमरेज था। इनका ननिहाल मानिकपुर में था। शेख अलहदाद इनके नाना थे।^१

ऐसी किंवदन्ती है कि जायसी के माता-पिता अत्यन्त ही गरीब थे, परन्तु अपने धर्म तथा पीरों और फकीरों में उनका गहरा विश्वास था। बाल्यावस्था में ही एक बार बालक जायसी पर शीतला का असाधारण प्रकोप हुआ। बचने की कोई आशा न रही। बालक की यह दशा देख माँ बड़ी विह्वल हुई। उसने प्रसिद्ध सूफी फकीर शाहमदार की मनोती की। माता की प्रार्थना सफल हुई। बच्चा बच गया, किन्तु उसकी एक आँख जाती रही।

“एक नयन कवि मुहम्मद गुनी”—विधाता को इतने से ही संतोष नहीं हुआ, एक कान की श्रवण-शक्ति भी नष्ट हो गई। “मुहम्मद बाई” बिक्षि तजी, इक सरबन इक आँखि।” सम्भवतः ये दोनों बाम अंग के ही थे। सैयद मुस्तफा के अनुसार वे

लूले और कुबड़े भी थे किन्तु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता और न उनके चित्रों से ही ऐसा प्रकट होता है ।

इसमें संदेह नहीं कि जायसी का व्यक्तित्व शारीरिक रूप में उतना महान् व सुन्दर नहीं था जितना कि चारित्रिक, आभ्यन्तरिक और कवि के रूप में । जो भी हो जायसी की कुरूपता जगत-प्रसिद्ध है । उनकी कुरूपता के सम्बन्ध में ही एक किंवदन्ती और है कि वे एक बार शेरशाह के दरबार में गये । शेरशाह उनके भद्दे चेहरे को देखकर हँस पड़ा । इस पर जायसी ने अत्यन्त ही शान्त-भाव से बादशाह से पूछा- 'मोहि का हँसेसि कि कोहराह' । अर्थात् तू मुझ पर हँस रहा है या उस कुम्हार (गढ़ने-वाले ईश्वर) पर ? कहा जाता है कि विद्वान् जायसी के इन गम्भीर शब्दों को सुनकर बादशाह बहुत लज्जित हुआ; और उसने उनसे क्षमा माँगी ।

बालक जायसी के पिता का स्वर्गवास उसकी अल्पाति-अल्प आयु ही में हो गया था । कुछ कालोपरांत स्नेहमयी माता का भी निधन हो गया । इस प्रकार बालक जायसी अपनी बाल्यावस्था में ही अनाथ हो गया । अतः जायसी का पालन-पोषण तथा शिक्षा की व्यवस्था अव्यवस्थित ही रही ।

अध्यात्म की ओर

अनाथ बालक जायसी कुछ दिनों तक तो अपने नाना शेख अलहदाद के पास मानिकपुर रहा किन्तु शीघ्र ही निर्मम विधाता ने उसका वह सहारा भी छीन लिया । बालक एकदम निराश्रय हो गया । ऐसी अवस्था में जीवन और जगत के प्रति उसके मन में गहरी विरक्ति भर आई । इसी बीच उसका सम्पर्क कुछ साधुओं और फकीरों से हुआ । उन्होंने अपने सदुपदेशों और प्रेमपूर्ण व्यवहारों द्वारा कुशाग्रबुद्धि बालक जायसी के नैराश्य-गगन का अन्धकार दूर करना आरम्भ किया । जायसी का आकर्षण उस ओर निरन्तर बढ़ता गया । बाल्यकाल की दीन-हीनावस्था से उत्पन्न विरक्ति और इन साधु फकीरों के सम्पर्क ने जायसी के किशोर मन को आध्यात्मिक दिशा प्रदान की । धीरे-धीरे यह आध्यात्मिक पिपासा बढ़ती गई । अन्त में एक दिन जिज्ञासु जायसी को इस प्यास ने गुरु के चरणों में ला उपस्थित किया ।

जायसी की आध्यात्मिक रुझान के सम्बन्ध में एक कहानी और प्रचलित है कि जायसी की बाल्यकालीन परिस्थितियों ने उन्हें ईश्वर-भक्त बना दिया था । अपनी अनाथावस्था में वे कुछ दिन तक साधुओं और फकीरों के साथ 'इधर-उधर भटकते और घूमते रहे । जब वयस्क हुए तो वे अपनी जन्मभूमि जायस को पुनः लौट आये और वहाँ एक गृहस्थ का जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया, किन्तु इससे उन की ईश्वर-भक्ति में किसी प्रकार की कमी न आई, अपितु उसका रूप उज्ज्वलतर ही होता गया । उनका जीवन एक ईश्वर-भक्त गृहस्थ का जीवन बना । जायसी का यह नियम

था कि जब वे खेती में होते तो अपना भोजन वहीं मँगा लिया करते थे, पर उनके साथ विशेषता यह थी कि वे अपना भोजन कभी अकेले नहीं करते थे। जो भी आस-पास दिखाई पड़ जाता, उसे बुला लेते और फिर उसके साथ-साथ भोजन करते। इसी क्रम में शायद किसी दिन एक कोढ़ी के साथ भोजन किया था। ऐसा बताया जाता है कि उसी दिन से उनकी भक्ति दृढ़तर हो गई और उस परमसत्ता के रंग में ऐसे डूबे कि फिर उससे उबर न सके। 'अखरावट' के इस दोहे में सम्भवतः इसी घटना की ओर संकेत है:—

“बुँदहि समुँब समान, यह अचरज कासों कहाँ।

जो हेरा सो हेरान, मुहम्मद आपुहि आपु मुँहु ॥”

साधु-फकीरो के साथ भ्रमण करने के उपरान्त पुनः जायस में लौट गृहस्थ जीवन व्यतीत करने के अनुमान को हमें कवि की इन पंक्तियों से भी बल मिलता है—

“जायस नगर मोर अस्थान् ।

तहाँ आइ कवि कीन्ह बखान् ॥”

‘तहाँ आइ’ में सम्भवतः उक्त भ्रमण से ही वापस लौट आने की ओर संकेत है। ऐसा अनुमान होता है कि शायद इसी घटना के आधार पर पूर्ण सूचना के अभाव में कुछ विद्वानों ने जायसी को जायस का न होकर अन्य स्थान का मान लिया यहाँ हमें इस प्रसंग पर अधिक जोर नहीं देना है क्योंकि इसकी चर्चा तो पिछले पृष्ठों में हो ही चुकी है। इस उल्लेख से हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि भगवद्-भक्त जायसी का जीवन-क्रम ही कुछ ऐसा हुआ कि उनकी आध्यात्मिक वृत्ति दृढ़तर होती गई।

सन्तान

मृत्यु के समय जायसी को सन्तानहीन बताया जाता है, किन्तु किसी भी समय उनके सन्तति थी या नहीं, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि उनके सात पुत्र थे। जायसी की मोदप्रियता और उनके मौजी स्वभाव की प्रसिद्धि सर्वत्र फैली हुई थी। एक दिन कवि जायसी ने ‘पोस्तीनामा’ शीर्षक पद्य की रचना की और उसे सुनाने के लिए गुरुजी के पास पहुँचे। इनके गुरुदेव वंद्यो के आदेश एवं अनुरोध से पोस्त का पानी प्रयोग करते थे जिससे क्षुधा और निद्राधिक का निवारण हो सके। जायसी की मार्मिक व्यंग्योक्ति को सुनकर सहसा वे बोल उठे, “अरे निपूते, तुझे ज्ञान नहीं कि तेरा गुरु निपोस्ती है।” कहा जाता है कि इधर गुरु के मुख से यह वाक्य निकला और उधर दूसरी ओर एक व्यक्ति ने आकर जायसी को यह सूचना दी कि उनके सातों पुत्र एकसाथ खाना खा रहे थे कि सहसा उनके ऊपर छत गिर गई और वे सब उसके नीचे दबकर मर

गये । गुरु का साधारण क्रोध जायसी के लिए अभिशाप बन गया । इस दुर्घटना से उनके हृदय को अत्यधिक दुःख पहुँचा । इससे उनके गुरु का हृदय भी विचलित हो उठा और उनके दृष्टि में शोकाश्रु छलक आये । इसके उपरान्त जायसी पूर्ण वैरागी हो गये और फकीर का जीवन अपना लिया । वास्तविकता क्या थी, इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाण न उपलब्ध होने के कारण कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता ।

जायसी और अमेठी

जायसी का अमेठी राज्य से गहरा सम्बन्ध बताया जाता है । उनके अमेठी पहुँचने के सम्बन्ध में निम्नलिखित दो कथाएँ प्रचलित हैं ।

पहली कथा—मुरीदी करते-करते जब बहुत दिन व्यतीत हो गये तो जायसी और उनके एक साथी हजरत मुहम्मद निजामुद्दीन बन्दगी की यह उत्कृष्ट अभिलाषा हुई कि हम लोग भी अपनी गद्दी स्थापित कर अब शिष्य बनाएँ । इस अभिलाषा को दोनों गुरुभाइयों ने अपने गुरु से व्यक्त किया । उनके गुरु शाह बोदले ने उनकी इस प्रार्थना पर विचार कर उन्हें यह आदेश दिया कि अमेठी चले जाओ । बन्दगी मियाँ ने लखनऊवाली अमेठी में गद्दी स्थापित कर अपूर्व ख्याति प्राप्त की और जायसी खास अमेठी चले गये । अमेठी के समीप एक जंगल में उन्होंने अपना स्थान निश्चित किया । इस घटना का उल्लेख संयद कलब मुस्तफा ने अपनी पुस्तक 'मलिक मुहम्मद जायसी' में किया है ।^१

दूसरी कथा—अपनी प्रतिभा और चिन्तन के बल पर जायसी एक बड़े सिद्ध एवं विख्यात पुरुष हुए । अनेक व्यक्ति उनके शिष्य बने । वे सब जायसी के अमर ग्रंथ 'पद्मावती' से पद्य गा-गाकर भिक्षा माँगा करते थे । एक दिन ऐसा ही एक चेला अमेठी में नागमती का बारहमासा गाता फिर रहा था । पद्मावत के निम्नलिखित दोहे को उसके मधुर कण्ठ से जब अमेठी-नरेश ने सुना तो वे उस पर मुग्ध हो गए—

“कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाइ ।

सखि बेलि पुनि पलुहैं, जो पिउ सींचै आइ ॥”

राजा ने पूछा, “शाह जी ! यह किसका दोहा है ?” शिष्य ने अपने विद्वान् गुरु जायसी का नाम बता दिया । फिर राजा जायसी के पास गये और उन्हें आदरपूर्वक अमेठी ले आये । तदुपरि जायसी मृत्युपर्यन्त वही रहे । इस कथा का उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी किया है ।

जनश्रुति है कि अमेठी-नरेश के कोई सन्तान न थी । जायसी की दुआ से उनको पुत्र रत्न प्राप्त हुआ । उस समय से जायसी का सम्मान और भी बढ़ गया ।

जायसी की मृत्यु

उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में मुस्तफा सहाब ने एक घटना का उल्लेख किया है। अमेठी-नरेश जब जायसी की सेवा में उपस्थित होते थे तो उनका एक बहेलिया (तुलंगची) भी उनके साथ जाता था। जायसी उसका विशेष सत्कार करते थे। सब लोगों ने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि 'यह मेरा कातिल है।' इसपर सब आश्चर्य-चकित हो गए। बहेलिये ने प्रार्थना की कि इस पाप-कर्म-को करने से पूर्व मुझे कतल करा दिया जाय। इस प्रकार मैं एक गुरुतम पाप से बच जाऊँगा। राजा ने भी इसे उचित समझा, परन्तु जायसी ने कातिल को आग्रहपूर्वक कतल होने से बचा दिया। उस समय से राजा ने आज्ञा घोषित कर दी कि उस बहेलीये को कोई बन्दूक तलवार आदि न दी जाए।

परन्तु विधि का विधान कदापि नहीं टलता है। एक अंधेरी रात को जब बहेलिया राजभवन से अपने गाँव जाने लगा तो दारोगा से कहा 'समय तंग हो गया है और मेरी राह जंगल में होकर है इसलिए रातभर के लिए एक बन्दूक दे दो। प्रातः काल ही लौटा दूँगा।' दारोगा ने इसमें कोई आपत्ति न की और एक बन्दूक उस बहेलिये को दे दी। जब बहेलिया जंगल में होकर जाने लगा तो किसी शेर को पास जानकर बहेलिये ने शब्द की दिशा में गोली छोड़ दी, शब्द बन्द हो गया। उसने सोचा शायद शेर मर गया और फिर वह बिना रुके आगे चला गया। उसी समय राजा ने स्वप्न देखा कि कोई कह रहा है—“आप सो रहे हैं और आपके बहेलिये ने मलिक साहब को मार डाला।” राजा यह सुनकर चौंक पड़ा और नंगे पैरों जायसी के स्थान पर पहुँचा। वहाँ पहुँचकर वह देखता है कि जायसी का निर्जीव शरीर धरती पर पड़ा है, मस्तक में गोली का निशान है। इस दुर्घटना से राजभवन तथा नगर में शोक उमड़ पड़ा। जायसी की लाश गढ़ के समीप ही दफ़ना दी गई। इस सम्बन्ध में डा० जयदेव ने भी यह उल्लेख किया है—“सूफियों के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी बोली में उसी परम प्रियतम का स्मरण करता है। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर वे किसी भी पक्षी या अन्य प्राणी की बोली का अनुकरण करते हैं और वही उनके लिए प्रियतम का प्यारा बन जाता है। इस प्रकार रात्रि की निस्तब्धता में उनका जप (स्मरण, जिक्र) का अभ्यास चलता रहता है। कुछ सूफी मोर-मोर' अथवा 'पिउ-पिउ' का जप करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी 'जिक्र असबी' (शेर की ध्वनि के अनुकरण) का अभ्यास करते थे। इसीलिए बहेलिये को आवाज सुनाई दी और उसने गोली छोड़ दी।”

मुस्तफा का मत—सैयद कल्ब मुस्तफा के अनुसार जायसी की मृत्यु १०४६

१. सूफी महाकवि जायसी : डा० जयदेव—पृष्ठ ३६

हिजरी है। परन्तु इस तिथि को मान लेने में कुछ आपत्तियाँ हैं।

पहली आपत्ति तो यह है कि १०४६ हि० मृत्यु सं० होने से जायसी का आयु १४६ वर्ष की ठहरती है जो असम्भव न होते हुए असाधारण घटना तो अवश्य ही प्रतीत होती है। ऐसा लगता है कि उनके किसी शिष्य या प्रशंसक ने दीर्घायु होने की यह बात लिख दी होगी जिसे पढ़कर गुलाम सरवर लाहौरी तथा शेख अब्दुल कादिर को विश्वास हो गया होगा और उसके आधार पर मुस्तफा साहब भी जायसी का मृत्युकाल १०४६ हिजरी मान बैठे होंगे।

दूसरी आपत्ति यह है कि जायसी के १०४६ हिजरी तक जीवत रहने का अर्थ है कि वे शाहजहाँ के प्रारम्भिक शासन में भी वर्तमान थे। परन्तु शेरशाह के पुत्र सलीमशाह सूर के समय के प्रसिद्ध कवि और दार्शनिक व्यक्तियों में भी उनका नाम नहीं है यद्यपि उन्होंने शेरशाह के राज्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सलीमशाह सूर के सिंहासनाखण्ड होने से पूर्व ही जायसी इस संसार से बिदा हो चुके थे।

तीसरी आपत्ति यह है कि यदि वे १०४६ हिजरी तक वर्तमान थे और ६४७ हिजरी में ही पद्मावत की रचना कर चुके थे तो शेष १०० वर्ष के लम्बे अवकाश में 'अखरावट' के अतिरिक्त उन्होंने अन्य किसी ग्रन्थ का प्रणयन क्यों नहीं किया। उन जैसे क्रियाशील सूफी के लिए यह असम्भव प्रतीत होता है। इस तरह हम देखते हैं कि १०४६ हिजरी उनका मृत्युकाल नहीं हो सकता।

नसीरुद्दीन हुसेन जायसी—दूसरा आधार हमारे पास नसीरुद्दीन हुसेन जायसी का है। उन्होंने मलिक मुहम्मद जायसी का मृत्यु-काल ४, रजब, ६४६ हिजरी कहा है। इस काल की सत्यता के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसी मत से सहमत जान पड़ते हैं।

प्रबल ऐतिहासिक तथ्यों तथा प्रमाणों के अभाव में विवशतावश ६४६ हिजरी को (१५४२ ई० लगभग) ही जायसी का मृत्यु-काल मानना अधिक समीचीन है। मलिक साहब का ६४८ हिजरी में अमेठी-राज्य की ओर से आमन्त्रित होना प्रसिद्ध है। वे अमेठी आये और सालभर वहाँ रहने के उपरान्त ६४६ हिजरी में किसी दुर्घटना के शिकार हो गए।

गुरु-परम्परा

मलिक मुहम्मद जायसी निजामुद्दीन औलिया की शिष्य परम्परा में से थे। इस परम्परा की दो शाखाएँ थीं। अपने 'पद्मावत' और 'अखरावट' दोनों ग्रंथों में जायसी ने गुरु-परम्परा का उल्लेख बड़े विस्तार के साथ किया है। इस आधार पर डाक्टर

प्रियसंन शेख मोहदी को इनका दीक्षा गुरु मानते हैं । पद्यावत में दो पीरों उल्लेख का मिलता है:—

“सैयद असरफ पीर पिआरा । तिन्ह मोहि पंथ दोन्ह उजियारा ।
गुरु मोहिदी रेयक मैं सेवा । चल उताइल जंहि कर खेवा ॥”

इसी प्रकार अखरावट में भी दोनों का उल्लेख है :—

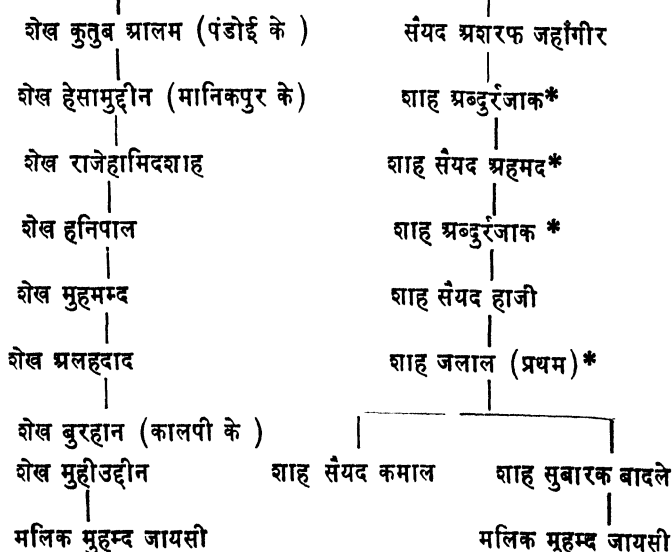
“कही सरीअत चिसती पीरू । धरित असरफ औ जंहगीरू ।
पा पाँयउ गुर मोहदी मोठा । मिला पंथ हो बरसन बीठा ॥”

‘आखरी कलाम’ में केवल सैयद अशरफ जहाँगीर का ही उल्लेख है । पीर शब्द का प्रयोग भी जायसी ने सैयद अशरफ के नाम के पहले किया है और स्वयं को उनके घर का बन्दी कहा है । इससे आचार्य शुक्ल यह अनुमान लगाते हैं कि उनके दाक्षा-गुरु तो थे सैयद अशरफ, परन्तु पीछे से उन्होंने मुहीउद्दीन की भी सेवा करके उनसे ज्ञानोपदेश और शिक्षा प्राप्त कर ली थी । डा० जयदेव ने जायसी की गुरु-परम्परा का सिलसिला इस प्रकार बताया है—

शेख निजामुद्दीन औलिया (मृत्यु ७२५ हिजरी १३२४ ई०)

शेख सिराजुद्दीन

शेख अलीउलहक



* आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन नामों का उल्लेख नहीं किया ।

डाक्टर साहब का कहना है कि जायसी ने अपनी रचनाओं को मसनवी सौबि में ढाला है। अतः उनमें गुरुस्तुति भी है। 'आखिरी कलाम' में एक गुरु की बन्दना है, शेष दो काव्यों (पद्यावत और अखरावत) में दो गुरु परम्पराओं का वर्णन है..... एक पुस्तक में केवल एक परम्परा का वर्णन करना तथा दो अन्य पुस्तकों में दो गुरु-परम्पराओं का वर्णन करना प्रमाणित करता है कि आरम्भ में एक गुरु से दीक्षा प्राप्त की, तत्पश्चात् दूसरे गुरु से लाभ उठाया।

मलिकसहाब जायस के रहनेवाले थे। वहाँ पर संयद अफसर जहाँगीर की ख्याति थी। उनकी दरगाह जायस में अब तक विद्यमान है। इधर-उधर भटकते हुए सूफी सन्तों के सत्संग से लाभ उठाते हुए तथा अपनी शक्तियों के विकसित होने पर जब मलिकसाहब जायस लौटे, तो प्रायः शेख मुबारक की सेवा में जिज्ञासु की भाँति उपस्थित होते रहे। क्षेत्र तैयार था, सूफीमत की ओर रुझान भी था। प्रियतम के दीदार की तीव्र उत्कंठा जागृत हो चुकी थी। शेख साहब ने जिज्ञासु की परीक्षा की। उसको अधिकारी समझकर दीक्षा दे दी। जायसी कृत-कृत्य हो गये। जायसी ने अशरफी घराने के प्रति अपनी कृतज्ञता इस प्रकार प्रकट की है :—

“जहाँगीर ओह चिस्ती निहकलंक जस चाँद।

ओह मखदूम जगत के, हों उन्हे के घर बाँद ॥”^१

अतः इस विवेचन से यह तो निश्चय ही है कि जायसी का गुरुद्वारा जायस था और उनके दीक्षा-गुरु 'मखदूम' साहब की गद्दी के उत्तराधिकारी शेख मुबारक थे। शुक्लजी ने संयद अशरफ को उनका दीक्षा-गुरु माना है, परन्तु उनकी मृत्यु जायसी के जन्म से बहुत पूर्व सन् ८०८ हिजरी में हो चुकी थी। अतः वे दीक्षा-गुरु नहीं हो सकते, वरन् उनके उत्तराधिकारी शाह मुबारक बोदले थे, जो मुहीउद्दीन के समकालीन थे और जिन्होंने जायसी को अपना खलीफा नियत करके सूफीमत के प्रचार की आज्ञा प्रदान की थी। आगे चलकर डा० जयदेव पुनः लिखते हैं—“जय प्रौढ़ावस्था में सूफीमत में दीक्षित जायसी शेख मुहीउद्दीन से मिले तब मलिकसाहब की वृत्ति, उत्कंठा एवं आचरण पर मुग्ध होकर उन्होंने ऐसे सुयोग्य अधिकारी का अपनी साधना के कुछ रहस्य बतला दिए। जायसी की कृतज्ञता ने इस अनुकम्पा का ऋण स्वीकार किया और शेख मुहीउद्दीन को भी गुरु माना। परन्तु जायसी ने गुमेंहदी की परम्परा को सर्वत्र द्वितीय स्थान ही दिया है तथा अशरफी परम्परा के प्रति जो कृतज्ञता एवं भक्ति प्रकट की है वह शेख मुहीउद्दीन के प्रति नहीं।”^२

सारांश यह है कि जायसी के दीक्षा-गुरु अशरफी परम्परा के शाह मुबारक

१. पद्यावत : स्तुतिखंड—पृष्ठ ७

२. सूफी महाकवि जायसी : डा० जयदेव

बोदले (शेख मुबारक) थे और उन्होंने अधिक समय इन्हीं गुरु की सेवा में व्यतीत किया तथा इन्हींकी अनुकम्पा से जायसी को अपनी साधना में सफलता प्राप्त हुई। साथ ही शेख मुहीउद्दीन से भी जायसी को कुछ गुह्य बातों का उपदेश मिला था। अतः वे विनयशील जायसी की दृष्टि में गुरु के समकक्ष सम्माननीय हुए। इस प्रकार उनके दो गुरु प्रसिद्ध हुए।

ज्ञानार्जन

बालक जायसी अरम्भ में ही अनाथ हो गया। ऐसी अवस्था में वह इधर-उधर मारा-मारा फिरा। साधु-सन्तों तथा पीरों और फकीरों की संगति की। फिर यह कहाँ सम्भव था कि किसी पाठशाला में विधिवत् अध्ययन करता। उसकी पाठशाला प्रकृति का व्यापक क्षेत्र था। उसके शिक्षक सांसारिक घटनाएँ और व्यापार थे। सहपाठी ज्ञानेन्द्रियाँ और सत्संग थे, तथा पुस्तक निर्मल हृदय था जिसमें अनुभूत व्यापारों का पारायण होता था। इस प्रकार मननशील जायसी युवावस्था तक शिक्षा प्राप्त करके संसार के समक्ष आया।

विविध विषयों तथा धर्मादि की जानकारी

जायसी मुसलमान माता-पिता के घर पैदा हुए थे, इसलिए 'इस्लाम धर्म' की मुख्य-मुख्य बातों को जानना उनके लिए बिल्कुल ही स्वाभाविक था, परन्तु वास्तविकता यह है कि उनका इस्लाम-सम्बन्धी ज्ञान भी गम्भीर नहीं कहा जा सकता। स्थान-स्थान पर उन्होंने अपने ग्रंथ में हिन्दू-धर्म की रीतियों तथा कथाओं आदि का भी प्रयोग किया है जिससे पता चलता है कि उन्हें हिन्दू-धर्म की भी कुछ जानकारी थी, यद्यपि इस दिशा में उन्होंने कहीं-कहीं भयंकर भूलें भी की हैं। जायसी प्रतिभा-सम्पन्न तथा कुशाग्र-बुद्धि थे। सूफी फकीरों के साथ-साथ उन्होंने हिन्दू-सन्तों एवं साधुओं की भी संगत की थी। और सबसे बड़ी बात यह है कि वह युग ही धार्मिक हलचल का था। ऐसी दशा में उन्हें हिन्दू-धर्म की भी कुछ जानकारी हो जाना कोई असम्भव बात नहीं थी।

हठयोग, रसायन तथा वेदान्त आदि अनेक बातों का सन्निवेश जायसी की रचना में मिलता है। हठयोग में मानी हुई इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की ही चर्चा उन्होंने नहीं की है बल्कि सुषुम्ना नाड़ी में नाभिचक्र (कुंडलिनी) हृत्कमल और दशम द्वार (ब्रह्मरंध्र) का भी बार-बार उल्लेख किया है। इसी प्रकार पद्मावत में भी रसायनिकों की भी कई बातें आई हैं। गोरख-पंथियों की तो जायसी ने अनेक बातें रखी हैं। सिंहलद्वीप में पद्मिनी स्त्रियों का होना और योगियों का सिद्ध होने के लिए वहाँ जाना इन्हींकी कथाओं के अनुसार है। इन सब बातों से पता चलता है कि जायसी साधारण मुसलमान फकीरों की भाँति नहीं थे। वे सच्चे जिज्ञासु थे और

हरएक मत के साधु-सन्तों तथा महात्माओं से वे मिलते-जुलते रहते थे और उनकी बातों से सार-तत्त्व ग्रहण करते रहते थे ।

जायसी का व्यक्तित्व

जायसी भावुक, सहृदय, संवेदनशील और भगवद्भक्त व्यक्ति थे । वे अपने समय के पहुँचे हुए सिद्ध और फकीर माने जाते हैं । सभी धर्मों के प्रति उदार दृष्टि-कोण रखना उनकी विशेषता थी । इसीलिए ईश्वर तक पहुँचने के अनेक मार्गों को वे उदारतापूर्वक स्वीकार करते हैं—

“विधिना के मारग हैं तेते । सरग नखत, तन रोवाँ जेते ॥”

लेकिन यह सब होने पर भी मुहम्मद साहब में उनकी गहरी आस्था है—

“तिन मैं पंथ कहौ अलगाई । जेहि दूनो जग छाज बड़ाई ॥

से बड़ पंथ मुहम्मद केरा । है निरमल कैलास बसेरा ॥”

उन्हें अहंकार छू भी नहीं गया था । विनम्रता उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी । कबीरदास की भाँति एक नया पंथ निकालने की उन्हें कभी नहीं सूझी, और न उनकी तरह ‘ज्यों की त्यों घर दीन्हीं चदरिया’ कहने का साहस ही वे कर सके, क्योंकि वे यह जानते थे कि सब कुछ हो जाने पर भी मैं एक मनुष्य हूँ । इसलिए मुझमें अपूर्णता भी बनी रहेगी । कबीर की भाँति उन्होंने किसीकी निन्दा नहीं की और न कटु हुए । उनमें प्रत्येक प्रकार का महत्व स्वीकार करने की अपूर्व क्षमता थी । वीरता, धीरता, ऐश्वर्य, रूप, गुण, शील सबके उत्कर्ष पर मुग्ध होनेवाला हृदय उन्हें प्राप्त था । समाज के प्रति अपने विशेष कर्तव्यों के पालन के साथ-साथ वे सामान्य मनुष्य-धर्म के सच्चे अनुयायी थे । वे बहुविज्ञ होते हुए भी अपने ज्ञान को पंडितों द्वारा दिया गया प्रसाद मानते हैं—

“हौं पंडितन्ह केर पछिलगा । किछु कहि चला तबल वेइ डगा ॥”

कबीर से विरोधी प्रकृति के होते हुए भी उन्होंने उनको एक महान् साधक के रूप में स्वीकार किया है—

“ना नारद तब रोई पुकारा । एक जोलाहे सौ मैं हारा ॥

पेम तंतु नित ताना तनई । जप तप साधि सँकरा भरई ॥”

जायसी ने अपनी कृतियों में ज्योतिष, ऋतु, त्योहार आदि का भी अच्छा परिचय दिया है । इतिहास, भूगोल तथा राजनीति आदि के सफल और अधिकारपूर्ण प्रयोग उन्होंने किये हैं । व्यवहार-ज्ञान तो उनका बहुत ही उच्चकोटि का था । हिन्दू-परिवार की प्रत्येक गतिविधि का उन्होंने सम्यक् अध्ययन किया था, जो उनके पश्चात् से प्रकट होता है । एक का दूसरे के प्रति व्यवहार कब कैसा होता है, यह वे भली-भाँति जानते थे । उदाहरणार्थ दो-एक स्थल लीजिए—

(१) हिन्दू-परिवार में सास-ननद के मध्य नवागता वधू की स्थिति—

सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेही । बारन ससुर न आवे देंही ॥

×

×

×

सासु ननद के भौह सिकोरे । रहब सँकोचि बुझी कर जोरे ॥”

(२) सपत्नियों में प्रेम का न होना जगत्-प्रसिद्ध है । वे एक ही आसन पर बैठकर परस्पर मीठी-मीठी बातें करती हैं, किन्तु उनके हृदय विरोधपूर्ण रहते हैं । इस सत्य को जायसी ने कितनी सरल भाषा में प्रकट किया है—

“बुझी सवति मिलि पास बईठी । हिय विरोध, मुख बातें मीठी ॥”

इसी प्रकार अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं ।

अंत में हम निष्कर्ष रूप में डाक्टर जयदेव के शब्दों में कहेंगे कि “जायसी अध्ययनशील व्यक्ति तो न थे, किन्तु बहुश्रुत थे । उनकी धारणा और मर्म-वेक्षणा शक्ति विलक्षण थी । इनकी सहायता से वे अपने अनुभव को जो उन्होंने सत्संग में, पर्यटन में, व्यवहारादि में प्राप्त किया था, अपने काव्यों में इस युक्ति से उपयोगी बनाकर सज्जित किया है कि उनके अक्षय ज्ञानागार को देखकर चकित होना पड़ता है । निस्सन्देह, उनका साहित्य तथा धार्मिक ज्ञान साधारण, इतिहास तथा भूगोल का विशेष और व्यवहार-पटुता तथा अनुभव-शक्ति उच्चकोटि की थी ।”

जायसी का कवि और सामान्य रूप दोनों हमारे लिए आदर्श हैं । उनका व्यक्तित्व महान् तथा अत्यन्त ही गम्भीर और शांत था । वे बड़े ही विनम्र और कृपालु स्वभाव के थे । ईश्वर ने उन्हें शारीरिक-सौंदर्य प्रदान नहीं किया था, किन्तु उनका हृदय सौन्दर्य के चरम उत्कर्ष पर था । उतना सुन्दर, कोमल तथा भावुक और प्रेम की पीर से भरा हृदय शायद ही किसीको मिला हो । ‘पद्मावत’ उनके इस हृदय का सच्चा परिचय देनेवाला अमर महाकाव्य है । उसमें उन्होंने लोक-पक्ष और भगवत्पक्ष दोनों की गूढ़ता तथा गम्भीरता का सफल निरूपण किया है । उनकी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक ‘अखरावट’ है, जिसमें वर्णमाला के एक-एक अक्षर पर सिद्धांत-सम्बन्धी कुछ बातों का विवेचन है । ‘आखिरी कलाम’ में मृत्यु के बाद जीव की दशा तथा कयामत के अंतिम न्याय का वर्णन है ।

‘पद्मावत’ जैसे उच्चकोटि के ग्रंथ के प्रणेता के रूप में जायसी अमर रहेंगे । उनका भावुक, सुकोमल और प्रेम की पीर से भरा हृदय प्रेम-पथ के पथिकों का सदैव मार्ग-दर्शन करेगा और उनके लौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन में नई ज्योति भरता रहेगा । हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के महान् समन्वयकारी, उच्च कोटि के कवि और आदर्श मानव के रूप में जायसी भारतीय साहित्य तथा समाज में सदैव स्मरणीय रहेंगे ।



जायसी के काव्य-ग्रन्थ

मलिक मुहम्मद जायसी निर्गुण भक्ति की प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। इनका जीवन और साहित्य दोनों हिन्दी-जगत् के लिए आदर्श एवं महान् हैं, परन्तु दुःख इस बात का है कि तत्कालीन अन्य कवियों तथा संतों की भांति इनके जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में भी कम भ्रांतियाँ नहीं हैं। जो सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर ही जायसी का जीवन-वृत्त, रचनाकाल तथा कृतियों आदि का मूल्यांकन एवं परीक्षण किया जाता है।

जायसी-कृत रचनाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। सामान्य-तया उनके नाम से निम्नलिखित ग्रंथ बताये जाते हैं—

१. पद्मावत	११. खूर्वानामा
२. अखरावट	१२. मोराईनामा
३. आखिरी कलाम	१३. मुकहरानामा
४. सखरावत	१४. सुहरानामा
५. चंपावत	१५. कहारनामा
६. इतरावत	१६. मेखरावटनामा
७. मटकावत	१७. घनावते
८. चित्रावत	१८. सोरठ
९. नैनावत	१९. परमार्थ जपजी
१०. पोस्तीनामा	२०. स्फुट छंद २१. मुखरानामा

इन ग्रंथों में पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम से हिन्दी के सभी पाठक परिचित हैं, शेष के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। भविष्य ही इन पर प्रकाश डालेगा। यहाँ पर क्रमशः एक-एक का मूल्यांकन एवं परीक्षण करना अपेक्षित है।

पद्मावत

रचनाकाल:—इस ग्रंथ के सम्बन्ध में सर्वप्रथम जो विवाद उठता है, वह है इसके रचनाकाल का। इस संबंध में विद्वानों के दो दल हो गये हैं। एक दल इसका

रचनाकाल ६२७ हिजरी मानता है और दूसरा ६४७ हिजरी। ऐसा लिपि की त्रुटि के कारण हुआ है। जायसी के समय फारसी राजभाषा थी। इस नाते फारसी लिपि का प्रयोग मुसलमानों के अतिरिक्त अनेक हिन्दू-परिवार भी करते थे। सूफियों के सभी ग्रंथ इसी लिपि में लिखे गये। जायसी के काव्यों की लिपि भी फारसी ही थी। इस लिपि में स्वर व्यंजनों की न्यूनता होती है जिससे सब शब्द ठीक-ठीक व्यक्त नहीं हो पाते। इसके अतिरिक्त इस लिपि के लेखक प्रायः घसीट के अभ्यस्त होते हैं जिसके परिणामस्वरूप नुक्ता (बिन्दी) तथा जबर, जेर-पेश (मूलस्वर अ, ई, उ के सूचक चिह्न) छूट जाया करते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी ये लेखक अपनी लिखी वस्तु को स्वयं भी नहीं पढ़ पाते। लेखकों की इस घसीट मनोवृत्ति का शिकार पद्यावत को भी होना पड़ा; और उसकी रचनाकाल-सम्बन्धी पक्ति के दो पाठ हो गये—

“सन नौ सें सत्ताइस अहा।”

तथा

“सन नौ सें सेतालिस अहा ॥”

मूल पद्यावत की प्रतिलिपि तैयार करने में लेखकों की इस साधारण असावधानी से हिन्दी-जगत् को इतनी माथा-पच्ची करनी पड़ रही है।

६४७ हिजरी माननेवालों का यह कहना है कि कवि ने अपनी साहित्यिक परम्परानुसार तत्कालीन राजा शेरशाह की बंदना की है। कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया भाग चार (१६३७) के पृष्ठ ५१ के अनुसार शेरशाह २६ जून १५३६ को गद्दी पर बैठा था। कुछ विद्वानों का विचार है कि उसका सिक्का इससे पूर्व ही चल गया था। ६४७ हिजरी ८ मई १५४५ से प्रारम्भ होता है। इससे पता चलता है कि ग्रंथ का रचनाकाल ६४७ हिजरी से पूर्व का नहीं है।

इस तर्क के प्रत्युत्तर में २७ हिजरी माननेवालों का यह कथन है कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य तो सन् १५२० ई० के आस-पास अर्थात् ६२७ हिजरी में ही बनाये, परन्तु ग्रंथ को शेरशाह के समय में पूरा किया। इसलिए कवि ने भूतकालिक क्रिया ‘कहा’ और ‘अहा’ का प्रयोग किया है—

“सन नव सें सत्ताइस अहा।

कथा अरंभ बेन कवि कहा ॥”

डा० कमल कुलश्रेष्ठ इस मत के अर्थात् ६२७ हि० माननेवालों के समर्थन में अपना एक तर्क और जोड़ते हैं। वह यह है कि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपना अन्तिम ग्रंथ ‘आखिरी कलाम’ १५२६ ई० अर्थात् ६३६ हि० में लिखा था। यह अन्तर्साक्ष्य से प्रमाणित एवं निर्विवाद है—

“सन नव सैं छत्तीस अहा जब भये ।

तब एहि कथा के आखर कहे ॥”

जबकि कवि का ‘आखिरी कलाम’ अर्थात् कवि की अन्तिम रचना ६३६ हिजरी की है तो पद्यावत निश्चय रूप से उससे पूर्व की होगी ।

डा० विमलकुमार जैन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा श्री यज्ञदत्त शर्मा आदि ६२७ हिजरी के पक्ष में हैं; किन्तु डा० रामकुमार वर्मा व श्री त्रिलोकीनारायण दीक्षित तथा डा० जयदेव आदि ६४७ हिजरी का समर्थन करते हैं । डाक्टर जयदेव अपनी बात के प्रमाण में जो तर्क उपस्थित करते हैं उनका सारांश इस प्रकार है—

१—‘आखिरी कलाम’ कवि की अन्तिम रचना नहीं है । इसलिए उसके आधार पर ‘पद्यावत’ को उससे पहले अर्थात् ६३६ हिजरी से पूर्व का मान लेना मुझे स्वीकार नहीं । ‘आखिरी कलाम’ कवि की पहली रचना है ।

२—‘पद्यावत’ के पूर्वाद्धि में सिंहलद्वीप का वर्णन है जिसमें कवि सामयिक परिस्थितियों का निर्देश कर सकता है, जैसाकि इन पक्तियों से ध्वनित होता है—

“फरै आस अति सघन सुहाए । औ जस फरै अधिक सिर नाये ॥

पेग पेग पर कुआँ बावरी । साजी बंठक औ पाँवरी ॥

राव रंक जावत सब जाती । सब कै चाह लेहि दिन राती ॥

पंथी परदेशी जत आवाहि । रख कै चाह दूत पहुँचावहि ॥”

यह वर्णन शेरशाह के काल पर लागू होता है । डा० चन्द्रबली पाण्डेय ने भी लिखा है—“उन्होंने (जायसी ने) पद्यावत में जिन रजवाड़ों का वर्णन किया है उनकी संगति प्रायः शेरशाह के समय में ही ठीक-ठीक बैठती है ।”^१ डा० कमल कुलश्रेष्ठ का इस सम्बन्ध का यह कथन उन्हें मान्य नहीं कि “कथा के प्रारम्भिक वचन कवि ने ६२७ हिजरी में कहे थे । बाद में सारा ग्रंथ लिख डाला गया । शेरशाह के समय में कवि ने उसकी भूमिका (स्तुति खंड) लिखी । उसमें भूतकालिक क्रिया का प्रयोग करते हुए प्रारम्भिक काल दिया और सामयिक राजा के रूप में शेरशाह की बंदना की ।”^२ इस पर आक्षेप करते हुए वे कहते हैं—“कहने की आवश्यकता नहीं कि डाक्टर महोदय स्तुति खंड को ग्रंथ की समाप्ति के उपरान्त की रचना मानते हैं और कथा की प्रथम पंक्ति ‘सिंहलद्वीप कथा अब गाओ’ के “अब” शब्द से दृष्टि चुरा लेते हैं ।”^३

१. तसव्वुफ और सूफीमत : डा० चन्द्रबली पाण्डेय

२. वही

३. वही

३—‘अखरावट’ की रचना ६२५ हिजरी में नहीं हुई । यदि इसकी रचना ६२५ हिजरी मान ली जाय तो निम्न पंक्तियाँ व्यर्थ हो जाती हैं—

“भा औतार मोर नौ सदी । तीस बरिस ऊपर कबि बदी ॥”

दूसरी बात यह भी है कि ‘आखिरी कलाम’ ६३६ हिजरी में रच लेने के उपरान्त जीवन के शेष १२-१३ वर्षों में कवि का मौन रहना असम्भव नहीं तो असंगत अवश्य था ।

४—‘पद्मावत’ शेरशाह के समय में ही रचा गया । यह मानना कि स्तुतिखण्ड (सम्पूर्ण अथवा उसका केवल शेरशाह सम्बन्धित स्पष्ट अंश) शेरशाह के जमाने में लिखा गया, बिल्कुल ही भ्रामक और असंगत है ।

५—बंगला अनुवाद प्राचीनतम नहीं कहा जा सकता और न उसकी शुद्धता ही सर्वथा विश्वसनीय है । आलो उजालो इस पंक्ति—“शेख मुहम्मद जाति जावन रचित ग्रंथ संख्या सप्तविंशतवसत” के अनुसार निश्चय ही ग्रंथ ६२७ हिजरी में पूरा हो गया था, पर इसे प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता ।

इसी प्रकार अन्य विद्वान् भी अपने-अपने मत के समर्थन में अपना-अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं ।

प्रस्तुत कृति के लेखक का विनम्र निवेदन यह है कि ‘पद्मावत’ जायसी की समस्त कृतियों में सभी दृष्टियों से प्रौढतम रचना है । कवि का जन्म ६०० हिजरी उसके अन्तर्साक्ष्य से पूर्णतया प्रमाणित है—

“भा अवतार मोर नवसदी”

यदि इस ग्रंथ का रचनाकाल ६२७ हिजरी मान लिया जाय तो उस समय कवि की अवस्था केवल २७ वर्ष ठहरती है । २७ वर्ष की अल्पायु में इतने बड़े ‘महाकाव्य’ का प्रणयन यदि सम्भव नहीं तो असंगत तथा अति कठिन अवश्य कहना पड़ेगा । दूसरी बात यह है कि यदि कवि २७ वर्ष की अल्पायु में ही पद्मावत ऐसा महाकाव्य लिख सकता था तो वह अपने जीवन के शेष २०-२२ वर्षों में किसी अन्य तथा अपेक्षाकृत प्रौढतर महाकाव्य की रचना क्यों नहीं कर सका ? और छोटी-छोटी कृतियों के निर्माण में उन बहुमूल्य तथा अनुभवी वर्षों को व्यय कर डाला । सहृदय तथा भावुक कविजन जायसी के स्थान पर स्वयं को बिठाकर सोचें कि क्या वे ‘पद्मावत’ ऐसे महाकाव्य के निर्माण के बाद जीवन के शेष २०-२२ वर्षों में केवल एक ‘अखरावट’ अथवा उसी प्रकार की अन्य छोटी-छोटी रचनाओं के सृजन में ही सन्तोष प्राप्त कर लेते ? कदापि नहीं ।

जायसी की मृत्यु ६४६ हिजरी सब प्रकार से प्रमाणित हो चुकी है । जा लोग ‘आखिरी कलाम’ को कवि की अन्तिम कृति मानते हैं तथा उसका रचनाकाल

६३६ हिजरी बताते हैं, उनसे अब मेरा एक प्रश्न है और वह यह कि 'आखिरी कलाम' की रचना ६३६ में कर लेने के उपरान्त जायसी ने क्या कवि-कर्म से मुक्ति ले ली थी ? यदि नहीं तो जीवन के शेष १२-१३ वर्षों में उन्होंने अन्य कौनसी रचना की ?

उत्तर में कहा जा सकता है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि कवि जीवन के अंतिम दिनों तक लिखता ही रहा हो। सम्भव है वह जीवन की अन्य परिस्थितियों तथा कठोर आवश्यकताओं में उलझा रहा हो और काव्य-सृजन का अवकाश न पा सका हो।

यह तर्क अपने में ठीक है और मैं इसे असम्भव भी नहीं मानता। पर इतना अवश्य कहूँगा कि १२-१३ वर्षों के लम्बे अन्तर में कवि का एकदम मौन रहना असंगत-सा जान पड़ता है। कवि चाहे जितनी परिस्थितियों से घिरा हो, उसकी वीणा के तार मौन नहीं रह सकते। सुख की मादक घड़ियों में यदि वे भ्रुकृत होने के लिए विवश हैं तो दुःख और वेदना के सघनतम क्षणों में हाहाकार करने को मजबूर भी हैं। कवि की हृत्तंत्री सुख और दुःख दोनों के आघातों से भ्रुकृत होती है, केवल एक के आघातों से ही नहीं।

यदि यह कहा जाय कि 'आखिरी कलाम' कवि की अन्तिम रचना नहीं है, उसके बाद भी कवि ने रचनाएँ की होंगी, पर वे अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं ; तो हमें यह भी कहना पड़ेगा कि निश्चय ही वे रचनाएँ अपेक्षाकृत पद्मावत आदि से श्रेष्ठतर रही होंगी और उन्हें लोकप्रियता भी पूब मिली होगी। किन्तु कही से भी और किसी भी रूप में इस दिशा में कोई संकेत नहीं मिलता। सम्भव है भविष्य की खोजों में वे प्राप्त हों और उनका रूप वस्तुतः पद्मावत आदि से सभी दृष्टियों से श्रेष्ठतर भी हो, परन्तु जब तक वे प्राप्त नहीं होती तब तक 'पद्मावत' ही कवि की श्रेष्ठतम रचना कही जायगी और वह २७ वर्ष की अल्पायु (६२७ हिजरी) में नहीं लिखी जा सकती।

अब मैं निर्विवाद और अधिकारपूर्ण शब्दों में यह कहूँगा कि 'पद्मावत' निश्चय ही ६४७ हिजरी में पूर्ण हुआ। यह और बात है कि कवि उसे पिछले कई वर्षों से लिखता चला आया हो। आरम्भ की वह तिथि ६२७ हिजरी हो सकती है अथवा ६२७ हिजरी से ६४७ हिजरी के बीच की अन्य कोई भी तिथि। पद्मावत में प्राप्त शाहेवक्त की बन्दना तथा अन्य प्रशंसात्मक अंश पुकार-पुकारकर उसे शेरशाह के समय की कृति बताते हैं ; फिर भी उसका रचनाकाल ६२७ हिजरी मानना एक दुराग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जायगा।

पद्मावत का साहित्यिक मूल्यांकन

'पद्मावत' का साहित्यिक मूल्यांकन करने के लिए सर्वप्रथम हमें यह देखना

होगा कि वह किस कोटि का ग्रंथ है। सागान्यतया आचार्यों ने काव्य के दो भेद किए हैं—मुक्तक काव्य और प्रबन्ध काव्य।

१. मुक्तक काव्य—जिसमें प्रत्येक छन्द स्वतः सम्पूर्ण और स्वतन्त्र है। पद्यावत इसमें नहीं आता।

२. प्रबन्ध काव्य—जिसमें कथावस्तु का रहना नितान्त आवश्यक है और प्रत्येक छन्द पूर्वापर की अपेक्षा रखता है। प्रबन्ध काव्य में कथावस्तु को अपने उद्देश्य की ओर अबाधरूप से प्रवाहित होना चाहिए। उसमें न तो किसी अनावश्यक प्रसंग अथवा कथा को लाना चाहिए और न आवश्यक को छोड़ना ही चाहिए। उसका कोई अंग ऐसा नहीं होना चाहिए जो मुख्य उद्देश्य की पूर्ति न करता हो। साथ ही संगठन की दृष्टि से प्रत्येक प्रसंग को उचित विस्तार एवं संकोच प्रदान करना चाहिए इतिवृत्तात्मक एवं रसात्मक स्थलों में उचित सामंजस्य होना चाहिए। रसात्मक स्थलों में मनुष्य के हृदय की वृत्तियाँ लीन होती हैं और इतिवृत्तात्मकता से उसकी जिज्ञासा-वृत्ति की तृप्ति होती है। प्रबन्ध काव्य में भावों की सुन्दरता के अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि भाव परिस्थिति के अनुकूल हैं या नहीं ?

इस दृष्टिकोण से यदि सम पद्यावत को देखें तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उसमें अनावश्यक प्रसंगों का समावेश अवश्य है, किन्तु अनावश्यक बातों का समावेश नहीं हुआ है। कथानक में सम्बन्ध-विच्छेद भी पाया जाता है, पर जो प्रसंग बीच में लाये गये हैं, उनका मुख्य कथा से सामंजस्य स्थापित कर दिया गया है। जैसे समुद्र में पाँच रत्नों की प्राप्ति और उनका अलाउद्दीन को दिया जाना तथा देवपाल की शत्रुता और दूती का भेजा जाना और राजा का उससे मृत्यु को प्राप्त होना। इसमें घटना-चक्रों के भीतर जीवन-दशाओं और पारस्परिक सम्बन्धों की वह अनेकरूपता तो नहीं है जो तुलसीदास के रामचरितमानस में है तथापि यह मानना पड़ता है कि रसात्मकता के संचार के लिए प्रबन्ध-काव्य का जैसा घटनाचक्र होना चाहिए, पद्यावत का वैसा ही है।^१

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में हम कहेंगे कि “प्रबन्ध काव्य में मानव जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की सम्बद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ हृदय को स्पर्श करनेवाले—उसमें नाना भावों को रसात्मक अनुभव करानेवाले—प्रसंगों का समावेश होना चाहिए। इस दृष्टि से देखा जाय तो पद्यावत में कहीं तो जायसी की घटना का संकोच करना पड़ा है और कहीं विस्तार। पद्यावत में भाव परिस्थिति के अनुरूप हैं।”^२

१. कविवर जायसी : डा० सुधीन्द्र

२. जायसी-ग्रन्थावली : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

इस प्रकार अब यह स्पष्ट हो गया कि पद्मावत में प्रबन्ध काव्य के लिए अपेक्षित प्रायः सभी गुणों का समावेश है। प्रेमालयान काव्यों में उसकी समानता का अन्य कोई ग्रंथ नहीं। वह अवधी भाषा का एक श्रेष्ठतर और रहस्यात्मक ग्रंथ है जिसकी रचना मसनवियों के ढंग पर हुई है। उसमें सात अर्धालियों के बाद एक दोहे का क्रम रखा गया है। प्रारम्भ में ईश्वर, मुहम्मद साहब, खलीफाओं, शाहेवक्त, तथा गुरु की क्रमानुसार स्तुति की है। तदुपरि कथा प्रारम्भ हुई है।

दो संस्कृतियों का सम्मिलन—पद्मावत हिन्दू और मुस्लिम विचारों का सम्मिलन प्रस्तुत करता है। वह दो संस्कृतियों का केन्द्र-बिन्दु है जहाँ वे परस्पर मिलती हैं। तत्कालीन वातावरण और विभिन्न विषमता पर स्थितियों को ध्यान में रखकर यदि पद्मावत का मूल्यांकन किया जाय तो हमें उसकी महानता एवं सफलता स्पष्ट दृष्टि-गोचर होती है। जायसी मुसलमान थे, हिन्दू घरानों की कहानी लेकर उन्होंने जिस सफल काव्य का निर्माण किया और उसके द्वारा पावन प्रेम का जो अमर संदेश दिया वह सर्वथा सराहनीय है। इससे पारस्परिक मतभेद को दूर करने में उन्हें काफी सफलता मिली और लोगों ने अपने जीवन के वास्तविक स्वरूप एवं लक्ष्य को पहचाना और वे उसकी ओर गतिशील हुए।

पद्मावत का उद्देश्य—पद्मावत का उद्देश्य है मानव को उद्विग्नता रहित चिर-शान्ति का आभास कराना। कवि ने (ब्रह्मस्वरूप) पद्मावती को सती कराकर संसार की असारता की ओर ही संकेत किया है। देखिये उस समय वह कितना शांत वातावरण प्रस्तुत करता है। जीवात्मा और आत्मा का महासम्मेलन कितना शान्ति-प्रद होता है।

“राती पिउ के नेह गई, सरग भयउ रतनार।

जो रे उवा सो अँथवा, रहा न कोई संसार ॥”

पद्मावत एक सफल महाकाव्य है। उसमें महाकाव्यत्व के पर्याप्त लक्षण विद्यमान हैं। जो थोड़ी-बहुत कमियाँ हैं वे उसके महान् संदेश में तिरोहित हो जाती हैं।

कल्पना और इतिहास का समन्वय—पद्मावत की कथा का निर्माण कल्पना और इतिहास दोनों के सहयोग से किया गया है। पूर्वार्द्ध कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार रखता है; पर उसमें भी कवि की अपनी स्वतन्त्र दृष्टि है। इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कवि एक उत्कृष्ट काव्य का प्रणयन कर रहा था, ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत नहीं कर रहा था। सौन्दर्य और पवित्र प्रेम के पुजारी कवि ने पद्मावत में काव्य-कला का एक आदर्श रूप प्रस्तुत किया है।

रस—प्रेम-काव्य होने के कारण पद्मावत का प्रधान रस शृंगार के दोनों पक्ष-संयोग और वियोग का इसमें बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है। मसनवियों के ढंग पर लिखे गये इस काव्य में जायसी ने अपनी मौलिकता सुरक्षित रखी जो है

।रतीय रंग से संपृक्त है। इसे यों कहिये कि दोनों का सार चुनकर जायसी ने इस म-मन्दिर का निर्माण किया है जो सर्वथा प्रशंसनीय और आदर्श कहा जायगा। ।व्य की उत्कृष्टता के साथ-साथ अध्यात्म की गहनतम ऊँचाई भी उसमें प्राप्त है। ।व्य के भाव और कलापक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय इस ग्रंथ में हुआ है।

वर्णनशैली एवं चरित्र-चित्रण—कवि की वर्णनशैली तथा चरित्र-चित्रण यदि सभी अनुपम हैं। हाँ, कही-कहीं पुनरुक्ति दोष उसमें अवश्य आ गया है और हीं-कहीं पर कवि अपनी विविध-विषयक जानकारी प्रस्तुत करने के लिए वर्णन में रसता उत्पन्न कर देता है जहाँ पाठको का मन ऊबने लगता है। पर ऐसे स्थल ढ़े ही है।

अन्य दोशों में अरोचक और अपेक्षित प्रसंगों का सन्निवेश, अनुचितार्थत्व तथा काव्य स्थल न्यून पदत्व आदि में गिनाये जा सकते हैं।

प्रेम का स्वरूप—पद्मावत में लौकिक प्रेम-पंथ के त्याग, कष्ट-सहिष्णुता या विघ्न-बाधाओं का चित्रण करके कवि ने भगवत्प्रेम की उस साधना का स्वरूप दिखाया है जो मनुष्य की वृत्तियों को विश्व का पालन और रंजन करनेवाली। स परमवृत्ति में लीन कर सकती है। सम्पूर्ण ग्रंथ में प्रेम की अत्यन्त व्यापक और ।भ्रमना तथा मर्मस्पर्शनी भाव-व्यंजना का निदर्शन है। भाषा प्रस्तुत-अप्रस्तुत का ।न्दर समन्वय और ठेठ अवधी भाषा का माधुर्य तो देखते ही बनता है। भाषा-माधुर्य । एक स्थल लीजिए—

“पिउ बियोग अस उाउर जीऊ । पपिहा तरु बोलै पिउ-पिऊ ॥

अधिक काम बगधैं सो रामा । हरि शिउलैं सो गएउ पिउ नामा ॥

विरह बान तस लाग न डोली । रकत पसीज भीजि तन चोली ॥

सखि बिय हेरि हार मन मारी । हहरि परान तजैं सब नारी ॥

खिन एक आव पेट मेंह साँसा । खिनहि जाइ सब होइ निरासा ॥

प्राण पयान होत केहू राखा । को सुनाव पीतम कैं भाखा ॥”

पद्मावत के विशाल सौन्दर्य और साहित्यिक गरिमा पर मुग्ध होकर डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है— “पद्मावत का सबसे बड़ा सौन्दर्य पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण में है। नागमती का विरह-वर्णन, उसकी उन्माद-वशा, पशु-पक्षियों का उससे सहानुभूति प्रकट करना, पक्षी द्वारा सन्देश आदि सभी स्वाभाविकता के साथ विवर्धतापूर्ण भाषा में वर्णित है। बारहमासा में वेबना का कोमल स्वरूप, हिम्बू दाम्पत्य जीवन का मर्मस्पर्शी माधुर्य और प्रकृति की सजीव अभिव्यक्तियों में हृदय की मनोहर अनुभूति है। इसी मनोवैज्ञानिक चित्रण में रसों का सफल प्रदर्शन हुआ है।”^१

जहाँ रत्नसेन-पद्मावती मिलन में संयोग और नागमती के विरह-वर्णन में वियोग शृंगार की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वहाँ गोरा बादल के उत्साह में वीरस जैसे साकार हो गया है। रत्नसेन के योगी होने और कथा के अन्तिम भाग में मारे जाने पर करुण रस की बड़ी सरस अभिव्यक्ति है। इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, 'पद्मावत' प्रेम-काव्य का एक चिरस्मरणीय रत्न रहेगा।

हिन्दी का प्रथम सफल महाकाव्य, और प्रेम-काव्य जगत् का अनूठा एवं जग मगाता रत्न 'पद्मावत' जायसी की काव्य-कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। हिन्दी-प्रबंध काव्यों में तुलसीकृत रामचरितमानस के बाद उसकी समकक्षता में और कोई भी काव्य नहीं ठहरता। साहित्यिक और रहस्यवादी एवं दार्शनिक सौन्दर्य से परिपुष्ट जायस की यह रचना उनकी कीर्ति को युग-युग तक अमर रखेगी, इसमें हंदेह नहीं।

आखिरी कलाम

यह कवि की नवीनतम प्राप्त कृति है। इसमें ६० दोहे और ४२० चौपाइय (अर्द्धालियाँ) हैं।

रचनाकाल—अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य दोनों के प्राप्त प्रमाणों से परीक्षित इसका रचनाकाल १३६ हिजरी है। इसमें संदेह की गुजायश नहीं। यह एक मसनव काव्य है। इसे हम भारतीय खंड काव्य की परिभाषा के अन्तर्गत ले सकते हैं।

नामकरण—इस ग्रंथ के नाम के सम्बन्ध में बड़ी भ्रान्तिर्या है। 'आखिर कलाम' में 'आखिरी' शब्द को देखकर कुछ विद्वान् इसे कवि की अन्तिम रचना बताते हैं। कलाम का शब्दिक अर्थ वक्रता, साहित्यिक कृति एवं आपत्ति है। इसके सा विशेषण जोड़ देने से यथा कलाम पाक, कलामुल्ला, कलाम-बजीद आदि का विशिष्ट अर्थ कुरआन होता है जिसको आखिरी कलाम भी कहते हैं। इसका कारण यह कि उसमें अन्तिम रसूल के उपदेशामृत संग्रहीत है।

'आखिरी-कलाम' में सृष्टि के अन्तिम दृश्य का वर्णन है। कवि ने इस मुहम्मद साहब के दैन्य तथा अपने अनुयायियों के उद्धार के लिए उनकी तीव्र लाला एवं व्याकुलता के वर्णन के साथ-साथ उनके सर्वोपरि महत्व-स्थापन का प्रयत्न किया है। सम्भव है इन्हीं बातों के कारण काव्य का नाम आखिरी कलाम पड़ा हो।

कुछ लोग इसका नाम 'आखिरीनामा' भी बताते हैं; और यह उनके नाम प्रसिद्ध ग्रंथों के नाम से मेल भी खाता है। यथा—पोस्तीनामा, खुर्वानाम मोराईनामा, मुकहरानामा, कहारनामा आदि; परन्तु इस काव्य का जायसी ने क नाम रखा था, प्रबल और पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। वास्तविक नाम जो कुछ भी रहा हो, हिन्दी-जगत् उसे 'आखिरी कलाम' नाम से ही जानता है।

केवल नाम के आधार पर इस काव्य को जायसी का अन्तिम काव्य नहीं कहा जा सकता। वर्ण्य-विषय के आधार पर इस ग्रंथ का नाम 'आखिरी कलाम' ठीक है।

कथावस्तु—डा० जयदेव ने अपने शोध-ग्रंथ 'सूफी महाकवि जायसी' में 'आखिरी कलाम' की कथावस्तु इस प्रकार से दी है—

कवि ने सर्वप्रथम ईश-स्तुति करके अपने जन्मकाल के भूकम्प का वर्णन किया है। तत्पश्चात् रसूल-स्तुति करके बाबर शाह की प्रशंसा की है। इसके बाद गुरु-बन्दना^१, जायस वर्णन^२, माया वर्णन करके काव्य का रचनाकाल दिया है। (१ से १३)

प्रलयकाल का वर्णन करते हुए पृथ्वी का द्रव्य उगलना तथा बिलाई के सूँघने से मृत्यु का वर्णन किया है। तत्पश्चात् मिकाइल फरिश्ते द्वारा चालीस दिन तक अग्नि-उपल वर्णन से समस्त सृष्टि के विनाश का वर्णन किया है। जिबराइल फरिश्ता आकर यह दृश्य देखता है और ईश्वर से निवेदन करता है कि संसार में कोई जीवित नहीं रहा है। (१८ तक)

मिकाइल आज्ञा पाकर चालीस दिन तक जल बरसाकर समस्त संसार को जलमग्न कर देता है। तत्पश्चात् इसराफील 'सूर' बजाते हैं जिससे पृथ्वी समतल हो जाती है। (१९ तक)

ईश्वर की आज्ञा पाकर जिबराइल अपने साथी फरिश्तों को एक-एक कर मार डालता है और स्वयं ईश्वर द्वारा मारा जाता है। (२१ तक)

अब ईश्वर चालीस वर्ष तक अकेला रहा और विचार किया कि सबको पुनः जीवित करके पुले-सरात पर चलाना चाहिए और कौसर—स्नान कराना चाहिए। (२२ तक)

यह विचार आते ही पहिले चारों फरिश्ते जीवित किये गए। जिबराइल पृथ्वी पर आये और मुहम्मद साहब को पुकारा। उत्तर में लाखों स्वर सुनाई पड़े। फिर जिबराइल ने उनकी खोज की। वे अपनी उम्मत समेत उठ खड़े हुए। वे सब नंगे थे और उनके नेत्र तालू में थे। (२५ तक)

मुहम्मद साहब की उम्मत का पुले-सरात को पार करना वर्णन किया है। धर्मी लोग शीघ्र पार कर गये, अन्य लोग अपने कर्मों के अनुसार धीरे-धीरे पार कर

१. इस काव्य में केवल एक 'गुरु' की बडना की गई है।

२. जायस नगर मोर अस्थान्। नगर के नाम आदि उदयान् ॥

जायसी का प्राचीनतम नाम 'उदयनगर' था। मुसलमानों ने इसका नाम जायस रखा जो फारसी 'जैश' (पड़ाव) से निकला है।

—(रायबरेली प्रांत का गजेटियर, पृष्ठ १८१, वी ६)

गये, किन्तु पापी पांव के समुद्र में पुल से नीचे गिर गये । (२८) तक

तत्पश्चात् आज्ञा पाकर सूर्य ६ मास तक तपता रहा । पापियों को धूप और प्यास सहनी पड़ी; किन्तु धर्मियों के मिर पर छाँह थी । रसूल छाया में नहीं बैठे, क्योंकि उनको अपने अनुयायियों की बड़ी चिन्ता थी । अन्य सवा लाख पैगम्बर भी उपस्थित थे । वे छाँह में बैठे थे । (३० तक)

जब मुहम्मद साहब की उम्मत बुलाई गई, तो उन्होंने आदम, इब्राहीम, नूह आदि के पास अलग-अलग जाकर प्रार्थना की कि मेरी कुछ परमात्मा से सिफारिश कर दो, किन्तु सबने अपने-अपने दुःखों का पचड़ा गाकर कोरा टरका दिया । (३६ तक)

तब रसूल ने अपनी उम्मत का सारा कष्ट अपने ऊपर लेकर परमात्मा से विनती की । खुदा ने कुपित होकर फातिमा की खोज कराई । जब सबने आँखें बन्द कर लीं, तब बीबी फातिमा हसन-हुसेन को लेकर खुदा के पास पहुँची और न्याय की याचना की—कि यदि मेरा न्याय न किया तो शाप दे दूँगी । फातिमा के क्रोध को देखकर ईश्वर ने रसूल को धौंस दी कि यदि वे अपनी पुत्री को शांत न कर देंगे तो उनके समस्त अनुयायी नरक में डाल दिये जावेंगे । रसूल ने फातिमा का समझाया, सारी स्थिति उसके समक्ष रखी । फातिमा को अपने पिता पर दया आ गई । उन्होंने क्रोध छोड़ दिया । ईश्वर भी मुहम्मद साहब पर प्रसन्न हो गये और मजीद (हसन-हुसेन) को नरक में डाल दिया । (४२ तक)

तत्पश्चात् रसूल के अनुयायी बुलाये गए । उनका न्याय किया गया । मुहम्मद साहब ने सबको क्षमा कर दिया, कौसर-स्नान हुआ । उम्मत सहित रसूल का निमंत्रण हुआ । भोजन का विशेषता का वर्णन कर कवि ने शराब और पानो का वर्णन किया है । रसूल की प्रार्थना पर ईश्वर ने सबको दर्शन दिया । (५१ तक)

दर्शन पाकर सब दो दिन तक बेहोश रहे । तीसरे दिन ज़िबराइल ने आकर जगाया, वस्त्र पहनाये और स्वर्ग को ले गये । यहाँ पर सबको बहुत सी हूरें और अप्सराएँ प्राप्त हुईं । (५५ तक)

अन्त में स्वर्ग और वहाँ के रहन-सहन का वर्णन कर जायसी ने अपने काव्य को समाप्त कर दिया है—

“नित पिरीत नित नव-नव नेहू । नित उठि चौगुन होइ सनेहू ॥

नित्सअ नित्स जो वारि बियाहै । बीसौ बीस अधिक ओहि चाहै ॥

तहाँ न मीचु, न नीव दुख, रह न बेह महें रोग ।

सवा अनन्व मुहम्मद, सब दुख मानें भोग ॥”

काव्य रूप—कथावस्तु को जान लेने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आखिरी

कलाम' एक प्रबन्ध काव्य है। इस काव्य को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है।

प्रथम भाग में काव्य का वह अंश आता है जो धार्मिक ग्रंथों पर आधारित है; तथा कयामत का होना, प्राणियों का उठना, पुले-सरात को पार करना, परमात्मा के सम्मुख उपस्थित होना। रसूल के अनुयायियों को ईश्वर द्वारा क्षमा प्रदान करना तथा अन्त में शाश्वत स्वर्ग-विहार आदि है।

द्वितीय भाग में काव्य का वह अंश आता है जिसका आधार कवि-कल्पना है। इस में ४० दिन अग्नि-उपल वर्षण, ४० दिन जल-वर्षण, ४० वर्ष तक ईश्वर का एकान्तवास और विचार प्राणियों का नंगे बदन होना, तालू में आखें होना, रसूल का अन्य पैगम्बरों के पास जाकर दैन्य-प्रदर्शन, फातिमा की खोज, फातिमा का क्रोध, खुदा का रसूल पर घूस गालिब करना, रसूल का फातिमा को समझाना, अतिरंजित रूप से दावत का वर्णन, ईश्वर-दर्शन, दो दिन तक सबका बेहोश पड़े रहना आदि।

काव्य का उक्त कथित प्रथम अंश तो अपनी जगह पर ठीक है, परन्तु द्वितीयांश जो कवि-कल्पना प्रसूत है, काव्य को आवश्यकता से अधिक कमजोर बना देता है। अनेक स्थल तो ऐसे हैं, जहाँ प्रणेता द्वारा कवि-कर्म की भी रक्षा नहीं हो पाई है। सभी बातें बेसिर-पैर की मालूम होती हैं जिनका काव्य के साथ कोई मेल नहीं बैठता। ये कल्पना-प्रसूत वर्णन बड़े विचित्र और उपहासास्पद हैं। इन स्थलों से काव्य की प्रबन्धात्मकता को बड़ा धक्का पहुँचा है। इससे यह प्रतीत होता है कि कवि में अभी तक वह क्षमता न आ सकी थी जो एक सफल प्रबन्धकार में होनी चाहिए।

विषय—ग्रंथ में यत्र-तत्र इस्लामी विचारों का भी समावेश है जिससे कवि की धर्म-सम्बन्धी मोटी-मोटी बातों की जानकारी ज्ञात होती है। काव्य में विरह की अभिव्यक्ति, गुहमहिमा का श्रद्धा और विश्वासपूर्ण वर्णन, उसके सूफी मत की ओर झुकाव का संकेत है। नाथपंथियों और योगियों का भी प्रभाव आंशिक रूप में परिलक्षित होता है। इस दिशा में अभी उसे अच्छी गति नहीं प्राप्त हो सकी थी।

सबसे प्रमुख और उल्लेखनीय बात जो इस ग्रंथ में है वह है हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति में मेल करने का प्रयास। कवि को यह प्रवृत्ति उस युग की देन है। कवि 'अजराइल' को 'यम' की संज्ञा देकर किस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम भावनाओं में ऐक्य का सम्पादन कर रहा है—

“पुनि पूछब यम ! सब जिउ लीन्हा । एकोँ रहा बाँचि जौ दीन्हा ॥”

अल्लाह का संहारक रूप रौद्र (शंकर) की संज्ञा से अभिहित होता हुआ देखिए—

“जो जम भान जिउ लेत है संकर तिन कर जीव लेउ ।

सो अब तरं मुहम्मद, देखु तहूँ जिउ देव ॥”

नीचे की पंक्तियों में कवि ने 'इबनीस' को सैतान और चंचल-वृत्ति नारद को भगड़ालू के रूप में चित्रित कर दोनों को एकरूपता प्रदान करने की कोशिश की है—

“धूत एक भारत धन गुना । कपर रूप नारद करि चुना ॥”

हिंदुओं की आरती प्रथा को भी कवि ने किस सुन्दरता के साथ अपनाया है—

“आरति करि सब आगे ऐहैं । नन्द सरोदन सब मिलि गैहैं ॥”

कवि के रचना-क्रम के रूप में—कुछ विद्वान् इसके नाम के आधार पर इसे कवि की आखिरी रचना मानने का दुराग्रह करते हैं जिसका संकेत पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है । कुछ लोगो का यह कथन है कि यह कवि की अन्तिम कृति नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें अन्तिम कृति के अपेक्षित सम्भावित गुण नहीं पाये जाते । ऐसी दशा में इसकी वस्तुस्थिति की जाँच करना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है ।

कलापक्ष—किसी भी कवि की अन्तिम रचना भले ही उसकी समस्त कृतियों में श्रेष्ठतम न हो, परन्तु प्रौढ़तर अवश्य होती है । इस दृष्टि से 'आखिरी कलाम' की साहित्यिकता पर जब हम विचार करते हैं तो हमें बहुत निराशा होती है । इसमें अनेक काव्यगत त्रुटियाँ हैं जिनमें से कुछ ये हैं—

१. अनेक शब्दों का विकृत रूप में प्रयोग किया गया है ।

२. कहीं-कहीं शब्दों के वास्तविक अर्थ को छोड़ मनमाने अर्थ के लिए उनका प्रयोग किया गया है ।

३. क्रियाओं के रूप प्रायः अशुद्ध हैं ।

४. मुहाविरा-सूचक शब्दों का प्रयोग भी अनुचित और असंगत रूप में किया गया है ।

५. छन्दों में पर्याप्त शैथिल्य है । मात्राओं के न्यूनाधिक होने के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं ।

६. शब्द-योजना प्रायः अशक्त और अनुपयुक्त है ।

७. निम्न-कोटि के अलंकारों का प्रयोग किया गया है । उदाहरण भट्टे, अशुचिकर तथा बेमेल हैं ।

८. अरबी, फारसी के शब्दों का बाहुल्य है ।

भावपक्ष—ये सभी त्रुटियाँ काव्य के कलापक्ष के अन्तर्गत आती हैं, अब भावपक्ष की भी कुछ त्रुटियाँ देखिए—

१. सम्पूर्ण काव्य में किसी भी स्थल पर कोई भी रस पूर्णता प्राप्त नहीं कर सका जो कवि की काव्य-साधना के प्रथम चरण का द्योतक है ।

२. कवि अपनी कथावस्तु को उचित ढंग से प्रस्तुत करने में भी असफल है । कहीं भी पाठक की उत्सुकता वह जागृत नहीं कर पाता ।

३. काव्य में नीरस और अनावश्यक स्थल बहुत हैं । यहाँ तक कि प्रत्येक

पृष्ठ पर ऐसे दो-दो, तीन-तीन पद पाये जाते हैं। यह कवित्व का भारी दोष है। इससे पता चलता है कि इस समय तक कवि की काव्य-कला अत्यन्त ही अविकसित अवस्था में थी।

४. इसमें काव्य के लिए अपेक्षित मौष्ठ्य एवं सौंदर्य का सर्वथा अभाव है।

ऐसी दशा में यह निश्चय ही कवि की प्रारम्भिक कृति है। अतः यह किसी भी प्रकार अन्तिम कृति नहीं कही जा सकती।

पद्यावत से तुलना—डा० कमल कुलश्रेष्ठ का कहना है कि 'आखिरी कलाम' की शैली पद्यावत की शैली से अधिक प्रौढ़ है। इस कथन की वास्तविकता की जाँच करने के लिए दोनों काव्यों की कतिपय पंक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना अधिक समीचीन होगा—

सर्वप्रथम हम दोनों ग्रंथों की प्रथम पंक्ति को ही लेते हैं—

“पहले नाँव बँड कर लीन्हा। जेइ जिउ बीन्ह, बोल मुख कीन्हा ॥”

—आखिरी-कलाम

“सुमिरौं आदि एक करतारु। जेहि जिउ बीन्ह, कीन्ह संसारु ॥”

—पद्यावत

इन पंक्तियों में भाव समान होते हुए भी पद्यावत का सौंदर्य निश्चय ही अधिक है। दूसरा उदाहरण लीजिए—

“मरम पाँव कै तेहि पै बीठा। होइ अपाय भुईं चलै बईठा ॥”

—आखिरी कलाम

“बीन्हैसि चरन अनूप चलाहीं। सो जानि जेहि बीन्हैसि नाहीं ॥”

—पद्यावत

दूसरी पंक्ति में सौंदर्य छलका पड़ रहा है जबकि पहली पंक्ति (अर्थात् 'आखिरी कलाम' वाली) शिथिलता से भरी हुई है।

इसी प्रकार अनेक स्थल प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिससे पता चलता है कि इस ग्रंथ के रचनाकाल तक कवि की अभिव्यंजना-शक्ति में पूर्ण प्रौढ़ता नहीं आई थी।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि की इस रचना में उसकी कला के उज्ज्वलतर रूप प्रस्तुत करनेवाले तथा उसे अमर बनानेवाले वे तत्व उपलब्ध नहीं हैं जिनके आधार पर हम इसे उसकी अन्तिम कृति कह सकें। अतः 'आखिरी कलाम' को कवि की प्रारम्भिक कृतियों में मानना ही अधिक उपयुक्त है।

अखरावट

जायसी के प्रसिद्ध तीन काव्य-ग्रंथों में यह तीसरा काव्य-ग्रन्थ है। इसमें कुल ४७६ पंक्तियाँ हैं। इसके अन्तर्गत ५४ दोहे, ५४ सोरठे और ३७१ चौपाइयाँ (अर्द्ध-

लियाँ हैं। यह जायसी का सिद्धान्त-ग्रंथ कहा जाता है।

रचनाकाल—सम्पूर्ण ग्रंथ में कहीं भी रचनाकाल का स्पष्ट संकेत नहीं है। मसनवी-काव्य न होने के कारण इसमें शाहेवक्त की चर्चा भी नहीं है। ऐसी दशा में इसके रचनाकाल का निश्चय करने में अन्य बातों का ही सहारा लेना पड़ता।

काफी छान-बीन के उपरान्त काव्य के अन्तरंग की दो बातों से हमें अपने इस प्रयत्न में थोड़ी सहायता मिलती है। प्रथम बात कवि द्वारा गुरु-परम्परा की चर्चा की है। शेष दो ग्रंथों 'पद्मावत' और 'अखरावट' में दो-दो परम्पराओं का उल्लेख है। इससे यह पता चलता है कि जायसी का सम्बन्ध प्रारम्भ में केवल एक गुरु-परम्परा से था, किन्तु कुछ कालोपरान्त दूसरी गुरु-परम्परा से भी हो गया। 'अखरावट' में दो गुरु-परम्पराओं का उल्लेख इस बात का संकेत है कि वह 'आखिरी कलाम' से बाद की रचना है।

अब 'पद्मावत' और 'अखरावट' में से किसे पहले की रचना माना जाय और किसे बाद की, यह प्रश्न उठता है। इस दिशा में 'अखरावट' की एक पंक्ति बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करती है। यह पंक्ति पैतालिसवें दोहे की पहली चौपाई है—

“कहा मुहम्मद प्रेम कहानी। सुनि सो ज्ञानी भये धियानी।”

निश्चय ही ज्ञानी लोगों को प्रेम में ध्यानावस्थित करानेवाली वह प्रेम कहानी 'पद्मावत' ही थी। इससे स्पष्ट हो जाता है 'अखरावट' 'पद्मावत' के बाद की रचना है।

सैयद कल्बे मुस्तफा लिखते हैं—“अल्फाज का इन्तखाब जुबान की रवानिगी, बंदिश की चुस्ती पता देती है कि यह नज्म शायर जायसी के दौर आखिर का नतीजा है। इसके वह करायन हैं कि 'अखरावट', 'पद्मावत' के बाद तसनीफ हुई हैं।”^१ डा० जयदेव भी सैय्यद मुस्तफा के स्वर में स्वर मिलाते हुए लिखते हैं कि “हम भी मुस्तफा साहब के निर्णय से पूर्णतया सहमत हैं। इस काव्य में छंदगत दोष न्यूनतम हैं। बोहे चौपाइयों में माधुर्य भी अधिक है और भाषा भी अधिक सुस्थिर तथा व्यवस्थित है। कवि ने एक नवीन छन्द सोरठे का भी सफल प्रयोग किया है।”^२

जनश्रुति के अनुसार 'अखरावट' की रचना अमेठी के राजा के कहने पर हुई थी। यह पाठकों को याद रखना चाहिए कि अमेठी के राजा का जायसी से परिचय 'पद्मावत' के ही माध्यम से हुआ था। इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि 'अखरावट' 'पद्मावत' के बाद की ही रचना है।

जनश्रुति, शैली की प्रौढ़ता और विशदता तथा कवि की आध्यात्मिकता की

१. मलिक मुहम्मद जायसी, पृष्ठ १६०

२. सूफी महाकवि जायसी, पृष्ठ १३५

गहराई 'अखरावट' की 'पद्मावत' के बाद की रचना मानने को विवश करती है। पिछले पृष्ठों में प्रमाणित किया जा चुका है कि 'पद्मावत' १४७ हिजरी में पूर्ण हुआ था। ऐसी दशा में यह निश्चित होता है कि 'अखरावट' की रचना १४८-४९ हिजरी के बीच ही हुई। जायसी की मृत्यु १४९ हिजरी सर्वसिद्ध है।

काव्यरूप—'अखरावट' न तो प्रबन्ध काव्य है और न मुक्तक काव्य, वरन् एक सिद्धान्त-काव्य के रूप में है। उस समय में प्रचलित सिद्धान्त-काव्य की अशास्त्रीय पद्धति के अन्तर्गत 'ककरहा-पद्धति' में इसकी रचना हुई है जिसका विषयानु-कूल विभाजन नहीं हो सकता है। हाँ, वर्णमाला के अक्षर क्रम से इसका विभाजन किया जा सकता है, परन्तु उसका मूल्य नगण्य है।

इस ग्रंथ का आरम्भ दोहे से किया गया है और उसमें मुहम्मद साहब के नूर के सर्वप्रथम निर्माण किये जाने की घोषणा की गई है। एक दोहे के पश्चात् एक सोरठा है और सात अर्द्धालियाँ हैं। इसी प्रकार दोहे, सोरठे और अर्द्धालियों का चक्र घूमा करता है।

वर्ण्य-विषय और उसका साहित्यिक मूल्यांकन—'अखरावट' कवि के सिद्धान्तों और दार्शनिक विचारों का ग्रंथ है। इसमें कवी ने सृष्टि के मूल प्रयोजन और प्रकारों आदि का वर्णन किया है। कवि ने योग, उपनिषद, अद्वैतवाद, भक्ति और इस्लामी एकेश्वरवाद आदि से महत्वपूर्ण सामग्री ग्रहण करके अपने ग्रंथ के वर्ण्य-विषय का निर्माण किया है। इस ग्रंथ के अनुसार आरम्भ में आदि ब्रह्म था। उसने अपने मनो-रंजन और आनन्द के लिए आनन्द की सृष्टि की। सृजन के क्रम में सर्वप्रथम चार फरिश्तो का निर्माण हुआ और इन चारों ने वायु, जल, अग्नि और मिट्टी इन चार तत्वों को मिलाकर पाँच भूतो से युक्त दस द्वार वाला एक पुतला रचा जो आदम कह-लाया। फिर "होआ" की रचना की गई और इन दोनों को स्वर्ग में बिहार करने भेज दिया गया। वहाँ नारद के बहकाने से इन दोनों ने वर्जित फल 'गेहूँ' खा लिया। परिणामस्वरूप इन्हें अल्लाह का कोप-भाजन बन कर एक लम्बे काल तक वियोग का कष्ट उठाना पड़ा। अन्त में भगवान की ही कृपा से उनका पुनर्मिलन हुआ और फिर उन दोनों से समस्त मानव-सृष्टि की उत्पत्ति हुई। हिन्दू और तुरक दोनों उन्हीं की सन्तान हैं। शरीर में ही कवि ने स्वर्ग-नर्क, सूर्य, चन्द्र, ऋतु तथा पुले-सरात आदि सबकी कल्पना की है। साथ ही पाँच ठग भी बताये हैं और उनसे अधिकाधिक सचेष्ट रहने को कहा है।

इसी प्रकार अन्य अनेक बातों का वर्णन करते हुए अन्त में कवि ने चेला गुरु-सम्बाद के रूप में सिद्धान्त विवेचन किया है। और बताया है कि मनुष्य को उस परम शक्ति के प्राप्त करने के साधनों में लग जाना चाहिए, प्रेम गाथाओं का वर्णन करना चाहिए क्योंकि अन्य सभी चीजें मिट जायेंगी। इस संसार में केवल एक प्रेम कहानी

ही अमर रहेगी ।

‘अखरावट’ की विशेषता उसके आध्यात्मिक विचारों में ही है । ब्रह्मवाद, हठ-योग, चक्रभेद और आनन्दवाद तथा सूफी इस्लामी सिद्धान्तों का समन्वयात्मक एकीकरण इस ग्रंथ की विशिष्टता है । ग्रंथ में वर्णित आध्यात्मिक विचारों को संक्षेप में डाक्टर रामरतन भटनागर ने इस प्रकार दिया है—

१—आदी में एक चित्तता ही की स्थिति थी, उसे चाहे आदि गोसाईं कहो, नूर कहो, अल्लाह या मुन्न (शून्य) कालांतर में इसी अस्तित्व से द्विधायुत जग का निर्माण हुआ—आकाश-पाताल, पाप-पुण्य, सुख-दुख ।

२—नारद या शैतान के भुलावे में आकर जीव की अभेद स्थिति जाती रही । आदम स्वर्ग से निकाला गया । जीव अल्लाह के जमाल और जलाल से वंचित हुआ ।

३—जीव में इसी वियोग की तड़पन है । वह एक बार फिर इसी अल्लाह के जमाल और जलाल को प्राप्त करना चाहता है । यह उसी समय सम्भव है जब पहली अभेद स्थिति को वह प्राप्त हो सके; जब जीव ब्रह्म हो जावे ।

४—इसके लिए प्रधान साधन है मन का परिष्कार ।

५—परन्तु केवल मन के परिष्कार से ही कुछ नहीं होता । साधक को कुछ विशिष्ट साधनाओं की भी आवश्यकता पड़ती है । जायसी का सूफी-पंथ पर विशेष आग्रह है, यद्यपि वह प्रत्येक पंथ को उपादेय मानते हैं ।

६—जायसी का सूफी-पंथ उनकी अपनी खोज है । वह न शास्त्रीय सूफी-पंथ है, न केवल भावनात्मक रहस्यवाद । उसके अंग हैं—

(क) नमाज, तरीकत, मारफत, हकीकत और शरीअत; इस्लामी विधि विधान हैं, परन्तु जायसी ने इनकी नई व्याख्या की है, यद्यपि इनके सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक उन्होंने नहीं लिखा ।

(ख) उसमें योग की भाँति कायानिष्ठ ब्रह्म की भावना है । इस पिंड (शरीर) में ही अल्लाह समाया है । ‘त्रिकुटि’, ‘चक्रभेद’ इत्यादि योगिक साधनों द्वारा उसे प्राप्त करना सम्भव है ।

(ग) नैतिक आचरण और हृदय-मन की शुद्धता ।

(घ) ‘प्रेम की पीर’ की साधना ।

७—यह निश्चय है कि जायसी ने अन्तिम अंग पर अधिक बल दिया है । सूफी तो एकमात्र प्रेम को जानता है । ‘पद्मावत’ में इस अंग को ही काव्य का विषय बनाया गया है । ‘पद्मावत’ की कहानी ‘प्रेम की पीर’, की ही कहानी तो है । इसी से जायसी ‘अखरावट’ में प्रेम की साधना को विस्तारपूर्वक नहीं समझते । यह समझने की बात भी नहीं है । इसे तो हृदय ही समझ सकता है । फिर इस साधना के आनन्द का आभास गुह-मुख होने से मिलता है । जायसी स्पष्ट कहते हैं—

“भा फल मीठ जो गुरु हूँत पावै ।”

परन्तु गुरु भी साधक को कितनी दूर बठा सकता है। संकरे पथ पर तो अकेला ही चलना होगा। कवि कहता है —

“कठिन खेल औं मारग सँकरा । बहुतन्ह खाइ फिरे सिर टकरा ॥
मरन-खेल देखा सो हँसा । होइ पतंग दीपक मेंह घँसा ॥
तन पतंग भिंगि कं नाई । सिद्ध होइ सो युग-युग ताई ॥
बिनु जिउ दिव्ये न पावै कोई । जा मर जिया अमर भी सोई ॥”

इस कठिन प्रेम-पंथ के साधक का यह एक चित्र कितना सजग है—

“प्रेम तंतु तस लाग रहू, करहु ग्यान चित बाँधि ।

पारधि जस अहेर कहँ, लाग रहे सर साँधि ॥

यह प्रेम की एक लक्ष्य माधना ही एक रूपक में रत्नसेन की पद्मावती प्राप्ति की कहानी बन गई है।

८—ग्राध्यात्म दर्शन के रूप में जायसी औपनिषदिक ब्रह्मवाद से भा आगे जाते हैं। वह कहते हैं—

“जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिन कोई ।

जो मन चाहा सो किया, जो चाहै सो होइ ॥”

वह जीव, ब्रह्म और प्रकृति को तत्त्वतः एक मानते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं वे प्रकृति को उसकी छाया कहते हैं, वहाँ प्रतिबिम्बवाद की भूलक आ जाती है। जो अन्तर है, यह माया के कारण नहीं है, शैतान की करनी है। शैतान के भुलावे में आकर जीव अपने जमाल और जलाल को भूल गया है। इसी से उसके, अल्लाह के और प्रकृति के बीच में परदा पडगया है, परन्तु जबसब ओर अल्लाह ही अल्लाह है तो यह दुःख-सुख, पाप-पुण्य इत्यादि द्वैध स्थिति क्यों है ? जायसी ने इसका भी उत्तर दे दिया है। जैसे जीवात्मा शुद्ध आनन्द-स्वरूप है पर शरीर के संयोग में दुःख आदि से युक्त दिखाई पड़ता है, वैसे ही शुद्ध ब्रह्म संसार के व्यावहारिक क्षेत्र में भला-बुरा आदि कई रूपों में दिखाई पड़ता है—

“सुनु चेला ! जस सब संसारू । ओहि भाँति तुम किया बिचारू ॥

जो जिउ कया तो दुःख सौ भीजा । पाप के ओट पुनि सब छोजा ॥

जस सूरज उग्र देख अकासू । सब जस पुनि उहै परगासू ॥

भल औ मन्व जहाँ लगि होई । सब पर धूप रहै पुनि सोई ॥

मंढे पर वह दिस्टि जो परई । ताकर मेलि नैनि सौं ढरई ॥

अस वह निरमल धरति अकासा । जैसे मिली फूल मेंह बासा ॥

सबै ठाँव औ सब परकारा । ना वह मिला न रहे निनारा ॥

ओहि जोति परछाहीं, नोव खंड उजियार ।
सूरज चांद के जोती, उदित अहै संसार ॥”

इस प्रकार केवल अद्वैतवाद के आधार पर ही जायसी अपने आध्यात्म जगत् का निर्माण करने में सफल हो जाते हैं। ‘अखरावट’ में एक स्थान पर ‘माया’ का उल्लेख अवश्य है, परन्तु शंकराद्वैत के अर्थों में नहीं। जायसी जीव-ब्रह्म के बीच में माया की स्थिति नहीं मानते।

सूफियों में एक प्रधान वर्ग का मत है कि नित्य पारमार्थिक सत्ता एक ही है। यह अनेकत्व जो दिखलाई पड़ता है वह उमीका ही भिन्न रूपों में आभास है। यह नाम रूपात्मक दृश्य जगत् उसी एक सत् की बाह्य अभिव्यक्ति है। परमात्मा का बोध इन्हीं नामों और गुणों के द्वारा हो सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर जायसी ने कहा है—

“दीन्ह रतन विधि चार, नैन, बेन, सरवन्न, मुख ।
पुनि जब मंडहि मार, मुहम्मद तब पछिताब में ॥”

—अखरावट

इस परमात्मा के दो स्वरूप हैं—नित्यत्व और अनंतत्व। दो गुण हैं—जनकत्व और जन्यत्व। शुद्ध सत्ता में न तो नाम है, न गुण। जब वह निर्विशेषत्व या निर्गुणत्व से क्रमशः अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आती है तब उस पर नाम और गुण लगे प्रतीत होते हैं। इन्हीं नाम रूपों और गुणों की समष्टि का नाम जगत् है। सत्ता और गुण दोनों मूल में जाकर एक ही हैं। दृश्य जगत् भ्रम नहीं है, उस परम सत्ता की आत्माभिव्यक्ति या ऊपर रूप में उसका अस्तित्व है। वेदान्त की भाषा में वह ब्रह्म का ही ‘कनिष्ठ स्वरूप’ है। हल्लाज के मत की अपेक्षा यह मत वेदान्त के अद्वैतवाद के अधिक निकट है।

जायसी मूल अद्वैत स्थिति तक पहुँचने के बीच में अहंकार को सबसे बड़ा विघ्न मानते हैं। इस सम्बन्ध का उनका उपदेश देखिये—

“हौं-हां” कहत सबे मति खोई । जौ तू नाहि आहि सब कोई ॥
आपुहि गुरु सो आपुहि चेला । आपुहि सब ओ आपु अकेला ॥
‘सोहं-सोहं’ बसि जो करई । जो बूझै, सौं धीरज धरई ॥
जब चीन्हा तब और न कोई । तन मन जिउ जीवन सब सोई ॥
‘हौं-हौं’ कहत धोख इतराही । जब भा सिद्ध कहाँ परछाही ॥”

कबीर ने भी इसी प्रकार की अभिव्यक्ति की है—

“जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं ‘मैं’ नाहि ।”

जायसी की चित्त और अचित्त की एकता शंकर के वेदान्त से मिलती हुई भी पर्याप्त मतभेद रखती है। शांकर-वेदान्त विवृतिवाद के अधिक निकट है— यह जगत् ब्रह्म का विवर्त्त (कल्पित कार्य) है। मूल सत्य द्रव्य ब्रह्म ही है जिस पर अनेक असत्य अर्थात् सदा बदलते रहनेवाले दृश्यों का अध्यारोप होता है। जो नाम रूपात्मक दृश्य हम देखते हैं वह न तो ब्रह्म का वास्तव स्वरूप ही है, न ब्रह्म का कार्य, या परिणाम ही है। वह है केवल अभ्यास या भ्रांति ज्ञान। उसकी कोई अलग सत्ता नहीं है। नित्य तत्त्व एक ब्रह्म ही है।”

जायसी ‘माया’ के स्थान पर प्रकृति में प्रतिबिम्बवाद की जो प्रतिष्ठा करते हैं वह और कुछ नहीं, अद्वैतवाद के महत्व का प्रतिपादन ही है—

“आपुहि आप जो देखै चहा। आपनि प्रभुता आपुसो कहा ॥

सब जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन, आपुहि देखा ॥

आपुहि बन, ओ आपु पखेरू। आपुहि सौजा आपु अहेरू ॥

आपुहि पुहुप फूल बन फूलै। आपुहि भँवर बास-रस भूलै ॥

आपुहि घट-घट मँह मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै ॥

दरपन बालक हाथ, मुख देखै दूसर गनै।

तस भा दुइ एक साधु, मुहमद एक जानिये ॥”

इन पंक्तियों की आचार्य शुक्ल ने जो व्याख्या की है वह भी पठनीय है—
“आपुहि दरपन, आपुहि देखा।” इस वाक्य से दृश्य और दृष्टा, ज्ञेय और ज्ञाता का एक-दूसरे से अलग न होना, सूचित होता है। इसी अर्थ को लेकर वेदान्त में यह कहा जाता है कि ब्रह्म जगत् का केवल निमित्त कारण ही नहीं उपादान कारण भी है। ‘आपुहि आप जो देखै चहा’ का मतलब यह है कि अपनी ही शक्ति की लीला का विस्तार जब देखना चाहा। शक्ति या माया ब्रह्म ही की है। ब्रह्म से पृथक् उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। ‘आपुहि घट-घट मँह मुख चोहे’—प्रत्येक शरीर में जो कुछ सौन्दर्य दिखाई पड़ता है उह उसी का है। किस प्रकार एक ही अखण्ड सत्ता के अलग-अलग बहुत से प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं, यह बताने के लिए जायसी यह पुराना उदाहरण देते हैं—

“गहरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै।

सूरज दिपे अकास, मुहमद सब मँह देखिये ॥”

—जायसी ग्रंथावली की भूमिका, पृष्ठ १४८

जायसी भारत में जन्मे थे, भारत की मिट्टी से उनका पालन-पोषण हुआ था; फिर यह कैसे सम्भव था कि वे भारतीय जीवन-दर्शन से प्रभावित न होते। यही

कारण है कि 'अखरावट' में हम एक साथ वेदान्ती अद्वैतवाद और सूफी प्रेमवाद (इश्क) का समन्वय पाते हैं।

निष्कर्ष—जायसी का यह ग्रंथ उनकी काव्य-कला और दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक विचारों का प्रौढ़तर स्तम्भ है। जिस सीधी-सादी और बोधगम्य भाषा-शैली में धार्मिक एवं आध्यात्मिक गूढ़ भावों को कवि ने व्यक्त किया है, वह भारतीय साधना और साहित्य में सब प्रकार से प्रशंसनीय है। 'अखरावट' अपनी श्रेष्ठता और गम्भीरता के लिए हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट और सम्मानपूर्ण स्थान रखता है।



जायसी के पद्मावत का हिन्दी साहित्य में स्थान

पद्मावत का सम्यक् अध्ययन तथा निरूपण करके हिन्दी-साहित्य में उसका स्थान निश्चित करने के लिए हम अपनी सुविधानुसार उसे निम्नलिखित बिन्दुओं से देखेंगे—

१—रचनाकाल

२—कथानक

३—कहानीकला (तत्वों के आधार पर)

४—काव्य-सौन्दर्य (भावपक्ष और कलापक्ष के आधार पर)

५—महाकाव्यत्व

६—दार्शनिकता

७—रहस्यवाद

८—हिन्दी-साहित्य में स्थान (विशेषताएँ)

रचनाकाल

इस ग्रंथ की रचना १४७ हि० में हुई थी। वैसे इस संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है, जिसकी चर्चा विस्तार से हम जायसी की कृतियोंवाले अध्याय में कर चुके हैं। पद्मावत, जायसी की प्रौढ़तम कृति है, इसलिए इसका निर्माण-काल हम जायसी की प्रौढ़ आयु में ही मानना अधिक युक्तिसंगत समझते हैं।

कथानक

डाक्टर कमल कुलश्रेष्ठ के शोध-प्रबन्ध हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य के अनुसार पद्मावत या पद्मावती की कथा इस प्रकार से है—

सिंहलगढ़ के राजा गंधर्वसेन और रानी चंपावती के एक संतान हुई जिसका नाम पद्मावती रखा गया। पद्मावती अत्यन्त सुन्दर थी। पाँच वर्ष की आयु प्राप्त करने पर उसने पढ़ना प्रारम्भ किया। पढ़ने में वह बहुत दक्ष थी। जब वह बारह बरस की हो गई तो सात खंडवाले महल में उसे अलग वासस्थान दिया गया। उसकी अग्रणीत सखियाँ थी और उसके पास एक तोता था। तोते का नाम हीरामन था। वह महापंडित था और वेदशास्त्र का ज्ञाता था। गन्धर्वसेन को अपने वैभव का बड़ा गर्व था। इस कारण वह पद्मावती का विवाह किसी से नहीं करता था। एक दिन मदन

संतप्त होकर पद्मावती ने हीरामन से कहा—‘हीरामन सुनो, दिन-दिन मुझको मदन अधिक सताता है। पिता मेरा विवाह नहीं करवाते और डर के मारे मैं भी कुछ नहीं कह सकती। देश-देश के वर मेरे लिए आते हैं, परन्तु पिता उनकी ओर अलि उठाकर भी नहीं देखते।’ हीरामन ने कहा—‘यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो देश-देशान्तर घूमकर मैं तुम्हारे योग्य वर खोजूँगा। जब तक मैं लौटकर नहीं आता, तब तक धैर्य धारण करो।’ कोई दुर्जन इस बात को सुन रहा था। उसने राजा से सारी बात कह दी। राजा ने सुए को मार डालने की आज्ञा दी, परन्तु जब तक मारने वाला वहाँ आ सके, रानी ने उसे छिपा दिया। नौकर कह-मुनकर लौट गए; परन्तु हीरामन ने कहा—‘रानी यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो अब ‘बन’ जाऊँ। जब राजा नाराज हो गये हैं तो यहाँ रहने में कुशल नहीं है।’

हीरामन उड़ गया। वह जंगल में गया। वहाँ पर उसे बहुत से पक्षी मिले। उन्होंने उसका आदर किया। वह उनके साथ बड़े सुख से रहने लगा। एक दिन वहाँ एक व्याध आया। हीरामन उसके जाल में फँस गया। बहेलिये ने उसे भावे में रख लिया, और ले गया।

चित्तौड़ में चित्रसेन नामक राजा राज्य करता था। उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम रत्नसेन रखा गया। ज्योतिषियों ने उसके जन्म लेते ही उसे बतलाया कि यह बड़ा सीभाग्यवान है। यह पद्मावती से विवाह करेगा और सिंहल-द्वीप में जाकर सिद्ध बनेगा।

चित्तौड़ का एक बनिया सिंहलद्वीप व्यापार करने के लिए गया। एक गरीब ब्राह्मण भी किसी से ऋण लेकर उस बनिये के साथ गया। सिंहलद्वीप में जाकर उस ब्राह्मण ने देखा कि वहाँ बहुत बड़ा बाजार लगा हुआ है और सभी चीजें ऊँचे दामों की हैं। इस कारण वह बड़ा निराश हो उठा। इतने में वह व्याध हीरामन को ले आया। ब्राह्मण उसके सोने जैसे रंग को देखकर विमोहित हो गया। उसने तोते से पूछा—“तुझ में गुण भी है या तू निर्गुण ही है।” हीरामन ने उत्तर दिया—“मैं ब्राह्मण और पण्डित दोनों हूँ। जब इस पिंजड़े के बाहर था तो मेरे पास सभी गुण थे; परन्तु जब बन्दी बना हुआ हूँ, तब तो कोई भी गुण नहीं है।” ब्राह्मण ने उसे खरीद लिया और चित्तौड़ ले आया।

चित्तौड़ के राजा चित्रसेन की मृत्यु हो चुकी थी और रत्नसेन गद्दी पर बैठा था। उसके दरबार में एक दिन यह बात चली कि सिंहल से कुछ बनिये आये हैं, वे विचित्र वस्तुएँ लाये हैं, जिनमें एक ब्राह्मण एक अत्यन्त सुन्दर तोता लाया है। राजा ने अपने नौकरों को भेजकर पण्डित को बुलवाया। दरबार में आकर हीरामन ने कहा—“मेरा नाम हीरामन है, मैं तुम्हारी भेंट पद्मावती से करवा दूँगा और वहीं

थोड़े दिन बीतने पर एक दिन राजा शिकार खेलने गए हुए थे, रत्नसेन की पटरानी नागमती ने हीरामन से पूछा—‘मेरे स्वामी के प्रिय, यह बताओ कि क्या मुझसे अधिक सुन्दर भी कोई स्त्री तुमने इस संसार में देखी है ? क्या तुम्हारे सिंहलद्वीप की पद्मिनी स्त्रियाँ मुझसे अधिक सुन्दर हैं ?’ पद्मावती के रूप का स्मरण कर हीरामन हँसा और बोला—“वास्तव में सुन्दर वह है जिसे उसका प्रिय प्यार करे। और यदि वैसे पूछती हो तो सिंहल की पद्मिनियों और तुममें कोई भी तुलना नहीं है। तुममें और उनमें दिन और रात का अंतर है। वे सोने की बनी हैं और सुगन्ध से भरी हुई हैं !’ नागमती ने जब यह उत्तर सुना तो उसे बड़ी चिन्ता यह हुई कि रत्नसेन से यह तोता अगर यह बात कह देगा तो वह उसे छोड़कर सिंहल की ओर उसे प्राप्त करने के लिए चल देगा। इस नाते उसने अपनी धाय को वह तोता मार डालने के लिए दे दिया। धाय उसे ले गई, किन्तु यह सोचकर कि यह तोता राजा का प्यारा है और जिसे स्वामी चाहता हो उसे मारना नहीं चाहिए, उसने उसे नहीं मारा, छिपा लिया। जब रत्नसेन शिकार खेलकर लौटे तो उन्होंने हीरामन की खोज की। नागमती ने सभी बात सच-सच बता दी। राजा को इस पर बड़ा क्रोध आया। नागमती धाय के पास दौड़ी हुई गई। धाय ने तोता दे दिया। रानी ने वह तोता राजा को लाकर दे दिया।

राजा ने तोते से सत्य बात पूछी। तोते ने सिंहल की बड़ी प्रशंसा करते हुए गन्धर्वसेन का परिचय दिया और कहा कि उसकी कन्या पद्मावती अत्यन्त सुन्दर है। राजा ने ज्योंही यह सुना, उसके मन में प्रेम जाग गया। उसने उसका नखशिख पूछा।

हीरामन ने कहा— राजा ! उसका शृंगार क्या वर्णन करूँ ? वह उसी पर शोभा देता है। उसके बाल कस्तूरी रंग के घुघराले हैं माँग लाल रंग की हैं और ललाट द्वितीया के चाँद की तरह है। इसी प्रकार हीरामन ने उसका नखशिख बताया।

राजा इस नखशिख को सुनते ही मुरझा गया। वह बेहोश हो गया। उसके मुख से बस ब्राहि-ब्राहि का शब्द भर निकलता था। राजा के कुटुम्बी परिजन सभी आ गए, परन्तु किसी की भी समझ में कुछ नहीं आता था। जब राजा को होश आया तो वह रोने लगा। सबने उसे समझाया, परन्तु उसकी समझ में कुछ भी नहीं आया। हीरामन ने भी समझाया, ‘राजा मन में धैर्य धरो और विचार करो। प्रीति करना अत्यन्त कठिन है। वह सिंहल का पथ अग्रगम है। वहाँ जाना बड़ा कठिन है। वहाँ योगी संन्यासी ही जा पाते हैं। तुम भोगी व्यक्ति हो, तुम्हारा वहाँ जाना अत्यन्त कठिन है।’ राजा ने ज्योंही यह बात सुनी, वह जाग-सा पड़ा। उसने शीघ्र ही सिंहल-यात्रा का निश्चय कर लिया।

राजा ने राज्य छोड़ दिया और वह योगी होकर चल दिया। रत्नसेन सात

समुद्र पार करके सिंहलद्वीप पहुँच गया। हीरामन उसे एक जगह टिकाकर पद्मावती के पास गया। पद्मावती कामवासना से तड़प रही थी।

इसी व्यथा के बीच हीरामन पहुँच गया। पद्मावती को ऐसा लगा मानो उसमें प्राण आ गए हों। रानी उसे गले लगाकर रोई और उससे कुशल पूछी। हीरामन बोला 'रानी, तुम युग-युग तक जीती रहो। मैं यहाँ से वन में उड़कर गया। वहाँ पर एक व्याध ने मुझे पकड़ लिया और एक ब्राह्मण के हाथों बेच दिया। ब्राह्मण मुझे जम्बूद्वीप ले गया। वहाँ चित्रसेन का पुत्र रत्नसेन चित्तौड़ में राज्य कर रहा था। वह देश बड़ा ही वैभववान एवं सुन्दर है। रत्नसेन मे बत्तीझो शुभ लक्षण है। उसने मुझे ले लिया। उसे देखकर मेरी इच्छा हुई कि वह तुम्हारे योग्य है, इस कारण मैंने उससे तुम्हारा वर्णन किया। तुम्हारा वर्णन सुनते ही उसके अन्दर प्रेम की चिनगी पड़ गई। वह तुम्हारे लिए राज्य छोड़कर भिखारी हो गया। वह सोलह हजार चेलों के साथ योगी बनकर आया है और महादेव की मढी में है।' यह सुनकर पद्मावती के मन में अभिमान हुआ। योगी से प्रेम करने को वह अपमान समझती थी। हीरामन फिर बोला,—'रानी, तुम्हारे विरह में उसने अपनी कंचन जैसी काया जलाकर भस्म कर दी है।' यह सुनकर रानी के मन में दया उत्पन्न हुई और काम भी जागा। वह बोली—'यदि वह जोगी अब मर जायगा तो यह हत्या मुझे ही लगेगी। अब मैं बसन्त-पूजा के बहाने वहाँ जाकर उससे मिलूंगी।' यह सुनकर हीरामन प्रसन्न-वदन वहाँ से उड़कर रत्नसेन के पास गया और उसका सन्देश सुना दिया।

बसन्त की श्रीपचमी को पद्मावती महादेव की पूजा के लिए सखियों के साथ वहाँ गई। पद्मावती ने महादेव की पूजा करते हुए कहा—'देवता, मेरी सारी सखियों का विवाह हो गया है, परन्तु अभी तक मेरे लिए वर नहीं मिलता। मेरी इच्छा पूरी करो और मुझे एक वर मिला दो।' इसी समय एक सखी हँसकर बोली, 'रानी, यह तमाशा तो देखो। पूर्व द्वार पर बहुत से योगी आये हुए हैं।' उनमें एक गुरु कहलाता है, वह बत्तीस लक्षणयुक्त राजकुमार प्रतीत होता है।' यह सुनकर पद्मावती वहाँ गई। उसको देखते ही राजा बेहोश हो गया। पद्मावती ने उसके शरीर पर चन्दन लगाया। एक क्षण के लिए तो राजा अवश्य जागा, परन्तु शीघ्र ही ठडक पाकर और अधिक गहरी नींद में सो गया। तब रानी पद्मावती ने उसके हृदय पर चन्दन से यह लिखा 'जोगी, तू भीख लेना नहीं सीखा है। जब घड़ी आई तब तू सो गया,' यह लिखकर पद्मावती लौट गई। रात में उसने स्वप्न में देखा कि चन्द्रमा का उदय पूर्व से हुआ और सूर्य का पश्चिम से। फिर सूर्य चाँद के पास चला आया और चाँद और सूर्य दोनों का मिलन हो गया है और हनुमान ने लंका लूट ली। जागने पर सखियों से उसने सपने का अर्थ पूछा। सखियों ने कहा—'तुम्हें वर प्राप्त होने वाला है।'

पद्मावती के चले जाने पर रत्नसेन जागा। वह पद्मावती को गया हुआ देखकर

रोने लगा और जल-मरने का निश्चय करने लगा ।

उसी समय वहाँ पर महादेव और पार्वती पहुँच गए । उन्होंने चिता देखकर रत्नसेन से आत्म-हत्या और योग नष्ट करने का कारण पूछा । राजा ने संक्षेप में अपनी व्यथा बतलाई । पार्वती के हृदय में उसे सुनकर दया आ गई । वह अप्सरा के समान सुन्दर रूप धारण कर बोली—“राजकुमार मेरी बात सुनो । मुझ जैसी सुन्दर और कोई स्त्री नहीं है । इन्द्र ने मुझे तुम्हारे पास भेज दिया है । यदि पद्मावती गई तो जानें दो । तुम्हें अप्सरा मिल गई ।” रत्नसेन ने कहा—‘मेरा प्रेम तो एक से है, दूसरी से मुझे कोई मतलब नहीं है ।’ तब गौरी ने महेश से कहा—“इसका प्रेम सचमुच बड़ा गहरा है । तुम इसकी रक्षा करो ।” इतने में रत्नसेन को महादेव का वास्तविक रूप ज्ञात हो गया । वह रोने लगा । उसको सान्त्वना देते हुए महादेव ने कहा—“रोओ मत । जैसा तुम्हारा शरीर नौ पीरी का है उसी प्रकार यह गढ़ भी है । दसवें द्वार तक इसमें भी चढ़ना पड़ेगा । जो दृष्टि को उलटकर लगाता है, वही उसे देख पाता है । वहाँ वही जा सकता है ।”

इस सिद्धि गुटका को पाकर राजा एकाएक महल में घुस पड़ा । गन्धर्वसेन को खबर मिली । उसने अपने नौकर भेजे । रत्नसेन ने नौकर से कहा कि मैं राजा की कन्या पद्मावती का भिवारी हूँ । यदि वह मुझे दे दी जाय तो मैं लौट जाऊँगा । नौकरो ने यह बात राजा गन्धर्वसेन से कही । गन्धर्वसेन को यह सुनकर बड़ा क्रोध आया ।

रत्नसेन उत्तर की प्रतीक्षा में दिन बिताने लगा, उसने एक पत्र हीरामन के हाथ पद्मावती के पास भेजा । पद्मावती ने उत्तर के रूप में अपने प्रेम की दृढ़ता का संदेश भेजा । पद्मावती का संदेश सुनकर रत्नसेन प्रसन्न हो उठा ।

गन्धर्वसेन ने अपने मन्त्रियों की सलाह ली । सबने रत्नसेन को बन्दी बनाने की सलाह दी । वह बन्दी बना लिया गया । इधर पद्मावती बड़ी दुखी थी । वह एक बार बेहोश हो गई । हीरामन सुझा वहाँ पर लाया गया । उसकी आवाज़ सुनकर उसे होश आया और पद्मावती ने एक संदेश रत्नसेन के लिए भेजा ।

रत्नसेन बन्दी बनाकर गन्धर्वसेन के पास लाया गया । वहाँ पर गन्धर्वसेन के पूछने पर उसने अपनी व्यथा सच-सच बतला दी । इसे सुनकर महादेव का आसन भी डोल उठा । महादेव और पार्वती भाट-भाटिन का रूप धारण करके वहाँ आए । रत्नसेन आसन जमाये ‘पद्मावती-पद्मावती’ जप रहा था । इतने में सुए ने आकर पद्मावती का संदेश सुनाया । महादेव भी आगे बढ़े । उन्होंने राजा को समझाया और रत्नसेन का सच्चा परिचय दिया । हीरामन ने भी साक्षी दी । तब विवाह का निश्चय कर रत्नसेन का तिलक किया गया और विवाह हो गया ।

उधर नागमती के दिन रत्नसेन के विरह में बड़े दुःख में बीत रहे थे । नागमती

रोती फिर रही थी। एक दिन आधी रात के समय एक पक्षी को उस पर दया आ गई ; उसने उसकी कथा सुनी। नागमती ने अपने विरह की कहानी उसे सुनाते हुए रत्नसेन के पास तक उसका संदेश ले जाने की प्रार्थना की। पक्षी ने उसे स्वीकार कर लिया।

पक्षी सन्देश को लेकर चला। सिंहल में बड़ी आग जल उठी। सब जगह आग लगी हुई देखकर सारे पक्षी तीर के एक वृक्ष पर आकर बैठ गए। उसी पेड़ के नीचे रत्नसेन जो कि वहाँ शिकार खेलने आए थे बैठ गए। यह पक्षी भी उसी पेड़ पर जा बैठा। उन पक्षियों में आपस में बात होने लगी। इस पक्षी ने अपना परिचय दिया और नागमती की कथा पक्षियों को सुनाई। राजा नीचे बैठा सब कुछ सुन रहा था। उसने पक्षी से फिर सारी बातें पूछी और कहा—“पक्षी, मेरी आँख सदा नागमती की राह पर ही लगी रहती है, परन्तु कोई भी आकर उसका सदेश नहीं सुनाता।” पक्षी ने नागमती की विरह-कथा फिर से कह सुनाई और वह उड़कर चला गया। रत्नसेन उसे पुकारता रह गया, परन्तु वह न लौटा। रत्नसेन को अब चित्तौड़ की याद आ गई। वह एक बरस से चित्तौड़ को भूला हुआ था। वह उदास रहने लगा। गंधर्वसेन उसे उदास देखकर उसके पास आया और बोला—“तुम मेरे प्राणों के समान हो। तुम्हें मैंने अपनी आँखों में रहने को जगह दी है। यदि तुम उदास हो जाओगे तो यह महल किसका होकर रहेगा ?”

रत्नसेन ने हाथ जोड़कर स्तुति करते हुए कहा,—“मैं काँच था, आप ही ने मुझे कंचन बना दिया है, परन्तु आज मेरा परेवा पत्र लेकर आया है। मेरा राज्य मेरा भाई ले रहा है। उधर दिल्ली सुल्तान भी हमला करने वाला है। इस कारण मुझे विदा दी जाय।” गन्धर्वसेन ने रत्नसेन की बात मान ली। शुभ मुहूर्त में वहाँ से अगणित द्रव्य लेकर रत्नसेन पद्मावती के माथ चला।

समुद्र में आधा रास्ता भी तय नहीं हो पाया था कि एक बड़ी जोर की आंधी उठी। इसमें राजा के जहाज अपना रास्ता भूल गये। विभीषण का एक केवट राक्षस मछलियों का शिकार करते-करते वहाँ आ गया था। राजा ने आफत में पड़कर उससे अपना जहाज ठीक रास्ते पर लगा देने की प्रार्थना की। राक्षस ने कपट रूप से उसकी विनय स्वीकार की और उसे एक अत्यन्त गहरे और भँवरों से भरे सागर में ले गया। वहाँ राजा का जहाज डूब गया।

बहते-बहते पद्मावती समुद्र तट पर लगी। वहाँ पर समुद्र की बेटी लक्ष्मी खेल रही थी। उसने पद्मावती को देखा और होश में लाई। होश में आने पर पद्मावती ने पूछा कि वह कहाँ है और रत्नसेन कहाँ है? लक्ष्मी ने कहा—“मैं तुम्हारे प्रिय को नहीं जानती। मैंने तो तुम्हें किनारे पर ही पाया है।” पद्मावती यह सुनकर सती होने का यत्न करने लगी। लक्ष्मी ने उसे समझाया और रत्नसेन को ढूँढ़ने का

आश्वासन दिया। उसने अपने पिता से यह सब बात कही। पिता ने पुत्री को आश्वासन दिया। आश्वासन पाकर लक्ष्मी समुन्द्र तट पर जाकर बैठ गई। वहाँ पर रत्नसेन आया। लक्ष्मी ने अपने को पद्मावती बतलाया, परन्तु रत्नसेन ने उसे पहचान लिया। तब लक्ष्मी उसे पद्मावती के पास ले गई। बिछुड़े हुए प्रेमी मिल गए। वहाँ से वे जगन्नाथपुरी होते हुए अपने देश की ओर बढ़े।

✓ जब राजा चित्तौड़ के निकट पहुँच गया तो नागमती को बड़ी प्रसन्नता हुई, परन्तु पद्मावती को देखकर उसमें सपत्नी की ईर्ष्या जाग उठी। उसने उसे दूसरे महल में उतारा। दिनभर राजा दान-पुण्य करता रहा। रात में वह नागमती से मिला, नागमती का जीवन फिर हरा-भरा हो उठा।

नागमती को प्रसन्न देखकर पद्मावती के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। वह एक दिन नागमती से लड़ गई। दोनों में हाथापाई होने लगी। जब रत्नसेन ने यह सुना तो वह वहाँ पहुँचा। उसने समझाया—“तुम दोनों का प्रिय मैं हूँ। जिस प्रकार रात दिन दोनों बराबर होते हैं उसी प्रकार तुम मेरे लिए बराबर हो।” दोनों रानियाँ यह सुनकर संतुष्ट हो गईं।

रत्नसेन के दरबार में राघव चेतन नामक एक बड़ा पंडित था। उसे यक्षिणी सिद्ध थी। एक दिन अमावस्या थी। राजा ने पूछा—“तूज कब है।” राघव के मुँह से निकला—“आज”। पंडितों ने कहा—‘महाराज कल है।’ इस पर विवाद उठ खड़ा हुआ। शाम को राघव ने यक्षिणी के बल से चाँद दिखला दिया। उस समय तो राजा ने बात मान ली, पर दूसरे दिन फिर द्वितीया का चाँद दिखलाई पड़ा। राजा को राघवचेतन पर बड़ा क्रोध आया। उसने राघवचेतन को अपने राज्य से बाहर निकल जाने की आज्ञा दी।

जब पद्मावती ने यह सुना तो उसे बड़ी चिन्ता हुई। ऐसा गुणवान आदमी निकाला जा रहा था, यह उसे अच्छा नहीं लग रहा था। वह झरोखे पर आई। उसी के नीचे से राघवचेतन जा रहा था। उसने पद्मिनी की ओर देखा। पद्मावती ने अपना एक कंगन उतार कर उसकी ओर फेंका और मुस्करा दी। राघवचेतन इसे देखकर बेहोश हो गया। सखियाँ उसे होश में लाईं। वह कंगन लेकर चला गया।

तब वह दिल्ली गया। वहाँ अलाउद्दीन से मिला और उसने पद्मिनी के सौन्दर्य की चर्चा की। अलाउद्दीन ने कहा—ऐसी पद्मिनी स्त्रियाँ “कहाँ मिलती हैं?” उसने कहा—‘ये सिंहलद्वीप में मिलती हैं।’

फिर उसने रत्नसेन की पद्मावती का नखशिख वर्णन किया। उसे सुनकर शाह चेतना खो बैठा। जब उसे होश हुआ तो उसने पद्मावती को शीघ्र भेज देने के लिए रत्नसेन के पास एक पत्र अपने दूत द्वारा भेजा और राघवचेतन को धन एवं सम्मान दिया।

जब रत्नसेन ने वह पत्र पढ़ा तो अतिक्रोधित हुआ । उसने दूत को यों ही लौटा दिया । दूत लौटकर अलाउद्दीन के पास गया । दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ पूरी तरह से होने लगीं अलाउद्दीन चित्तौड़ की ओर बढ़ा ।

अलाउद्दीन चित्तौड़ पहुँचा । बड़ा घमासान युद्ध हुआ । सौ-सौ मन के गोले रत्नसेन के गढ़ पर गिरते थे, परन्तु वह डटा हुआ था । उसने अपने भोगविलास को भी नहीं छोड़ा । एक दिन एक वेश्या को अलाउद्दीन के पक्ष के एक व्यक्ति ने तीर मार दिया । वह मर गई । इससे राजपूतों को बड़ा क्रोध आया । वे जी-जान से लड़ने लगे । कई वर्षों तक यह युद्ध चलता रहा । अलाउद्दीन को खबर मिली कि दिल्ली पर लोग हमला करने वाले हैं । उसने यह भी सोचा कि अगर वह इस समय चित्तौड़ जीतेगा तो पद्मावती जलकर सती हो जायेगी । अतः इस बार संधि करना उसे उचित दिखाई पड़ा । अलाउद्दीन ने अपना दूत रत्नसेन के पास भेजा । शर्त यह रखी कि रत्नसेन पद्मावती न दे और साथ ही साथ चन्देरी भी ले ले, परन्तु समुद्र ने उसे जो पाँच रत्न दिये थे, उन्हें दे दे । राजा ने इसे स्वीकार कर लिया । दूसरे दिन अलाउद्दीन प्रीतिभोज के लिए गया ।

राजा ने बड़े अच्छे-अच्छे व्यंजन बनवाये थे । बादशाह ने भोजन किया और वह चित्तौड़-गढ़ देखने लगा । देखते-देखते वह रनिवास पहुँचा । वहाँ पर रत्नसेन की दासियाँ थीं । अलाउद्दीन ने उनको स्वरूपवान देखकर समझा कि इन्हीं में कोई पद्मावती है । उसने राघवचेतन से पूछा । राघव ने उसे बताया कि ये तो दासियाँ है, पद्मावती नहीं ।

भोज के बाद गोरा बादल ने रत्नसेन को समझाया कि अलाउद्दीन का विश्वास करना उचित नहीं, परन्तु रत्नसेन ने उनकी बात न मानी । एक जगह बैठकर वह अलाउद्दीन के साथ शतरंज खेलने लगा । वहाँ पर एक बड़ा दर्पण रखा था । दर्पण में एकाएक पद्मावती का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ा । अलाउद्दीन उसे देखते ही बेहोश हो गया ।

जब अलाउद्दीन होश में आया तो राजा उसे अपने गढ़ के दरवाजे तक पहुँचाने आया । दरवाजे पर आते ही अलाउद्दीन ने उसे बाँध लिया और दिल्ली ले गया ।

कुम्भलनेर का राजा देवपाल रत्नसेन का शत्रु था । जब उसने यह सुना तो पद्मावती को फुसलाने के लिए अपनी एक दूती भेजी, परन्तु पद्मावती का रत्नसेन से इतना दृढ़ प्रेम था कि उसने दूती को अपमानित करके निकाल दिया ।

बादशाह अलाउद्दीन ने भी एक वेश्या को दूती बनाकर भेजा, परन्तु वह भी पद्मावती को फुसलाने में असफल रही ।

पद्मावती अपने चारों ओर यह जाल बिछा हुआ देखकर गोरा बादल के पास

जायसी के पद्मावत का हिन्दी साहित्य में स्थाव

गई और उनसे अपनी कथा सुनाई । गोरा और बादल को दया आ^र
रत्नसेन को छुड़ा लाने का वचन दिया ।

बादल का उसी दिन गौना होकर आया था । माँ ने उसे जाने से रोक^र,
परन्तु वह न माना । पत्नी ने भी रोका, पर उसने उसकी प्रार्थना भी अनसुनी कर
दी और चला गया । *

सोलह सौ पालकियाँ सँवारी गई । उनमें हथियारों से लैस राजपूत सरदार
बैठाये गये । उनमें एक पालकी पद्मावती की भी बनी । उसमें एक लोहार बैठाया
गया । इन पालकियों के साथ गोरा-बादल यह कहते हुए चले कि पद्मावती अलाउद्दीन
के पास जा रही है ।

वे दिल्ली पहुँचे और अलाउद्दीन से प्रार्थना के स्वर में बोले कि पद्मावती कह
रही है—“मैं तो दिल्ली आ गई हूँ, परन्तु मेरे पास चित्तौड़ की कुंजियाँ हैं । यदि
आपकी आज्ञा हो तो उन्हें रत्नसेन को सौंप दूँ ?” अलाउद्दीन ने इसे स्वीकार कर
लिया । वह लोहार वाली पालकी रत्नसेन के पास गई । उस लोहार ने रत्नसेन के
बन्धन काट दिए और बादल उसे लेकर चित्तौड़ की ओर भागा । गोरा और अला-
उद्दीन की सेना में वही युद्ध होने लगा । इस युद्ध में गोरा की मृत्यु हो गई ।

रत्नसेन चित्तौड़ आकर पद्मावती से मिला । पद्मावती ने बादल की भुजाओं
की पूजा की । रात में पद्मावती ने देवपाल की बात रत्नसेन से कही ।

देवपाल की चाल सुनकर रत्नसेन को बड़ा क्रोध आया । वह उससे लड़ने को
चल पड़ा । युद्ध में रत्नसेन और देवपाल परस्पर लड़कर मर गए । रत्नसेन की मृत्यु
पर गढ़ बादल को सौंप दिया गया ।

पद्मावती एवं नागमती भी राजा के साथ सती हो गई । उनके सती होने के
बाद अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर हमला किया । बादल लड़ा, परन्तु हार गया । सारी
स्त्रियाँ जौहर में जलकर सती हो गईं और पुरुष संग्राम में खेत रहे । चित्तौड़ पर
मुसलमानों का अधिकार हो गया, परन्तु अलाउद्दीन पद्मावती को न पा सका ।

कहानी-कला

कहानी-कला के विकास में निम्नलिखित बातों का अध्ययन आवश्यक होता
है—

१. कथावस्तु

२. पात्र

३. चरित्र-चित्रण

४. कथोपकथन

५. शैली

६. उद्देश्य

इस कसौटी पर पद्मावत की कहानी-कला को कसने के पूर्व हमें यह जानना

जायसी : एक विवेचन

या मध्ययुग में, आधुनिक काल की भाँति, कहानी-कला का विकास इस १०-११ स्तर पर नहीं हुआ था। इस युग में पाई जानेवाली प्रेमाख्यानक कहानियों का प्रमुख उद्देश्य उपदेश देना ही होता था। ये उपदेश भी साधारणतया तीन प्रकार के होते थे:—

१. प्रेम-विषयक
२. सामान्य
३. इस्लाम अथवा धर्म-सम्बन्धी।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए अब हम पद्मावत की कहानी-कला को उक्त कसौटी पर कसते हैं।

कथावस्तु—पद्मावत की कथावस्तु प्रमुख रूप से प्रेमविषयक ही है। धर्मगत बातें गौण होकर आई हैं। इस ग्रंथ में रत्नसेन और पद्मावती की कथा है। वस्तुतः इसमें प्रेम ही सारी कथा का मूल है। प्रेम के उदात्त और अखिल सृष्टिव्यापी एवं लोकोत्तर स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिए इसकी कथावस्तु का निर्माण किया गया है। कथा के पूर्वाद्ध में रत्नसेन-पद्मावती, नागमती और सुआ—नायक नायिका, प्रति-नायिका और दूत के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। उत्तरार्द्ध की सारी कथा प्रेम-परीक्षा के उपकरण के रूप में आती है। लक्ष्मी परीक्षा लेती है। रत्नसेन सफल होता है, अलाउद्दीन परीक्षा लेता है पद्मावती को विजय मिलती है। आदि से अंत तक कथानक प्रेम-रंग में सराबोर है। प्रेम का स्वरूप लौकिक होते हुए भी पारलौकिक है जो अन्त में पद्मावती द्वारा कहे गए इन शब्दों से ध्वनित होता है:—

“औ जो गांठ कंत तुम जोरी।

आवि अन्त लहि जाय न छोरी ॥

यह जग काहि जो अछहिन आधी।

हम तुम नाथ दुहैं जग साथी ॥”

‘पद्मावत’ की संवेदना ही यह है कि प्रेम जीवन का सार है। उसके सम्मुख स्वर्ण भी झूठा है। प्रेम सर्वोपरि है।

पद्मावत की कथावस्तु घटना-प्रधान न होकर चरित्र-प्रधान है। रत्नसेन और पद्मावती का चरित्र ही कथावस्तु का मेरुदण्ड है। इन दोनों के चरित्र के विकास के निमित्त ही घटनायें सहायक रूप में उपस्थित होती हैं। उनका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। कथानक के घटना-प्रधान न होकर चरित्र-प्रधान होने का एक और प्रमाण यह है कि यदि लेखक का ध्यान कथानक को घटना-प्रधान करने पर रहा होता तो वह इतने खण्डों का निर्माण कर कथा को अनावश्यक विस्तार न देता, अपितु थोड़े में ही इति पर पहुँच जाता। उसके विस्तार को देखते हुए ऐसा ही प्रतीत होता है कि लेखक का ध्यान घटनाओं पर केन्द्रित न रह पात्रों के चरित्रों पर केन्द्रित रहा है।

पद्मावत की कथावस्तु का पर्यवसान दुःख में होता है। इस नाते हम उसे सुखान्त न कहकर दुखान्त ही कहेंगे। अलाउद्दीन तथा देवपाल के साथ पाठकों को कोई सहानुभूति नहीं होती। मध्य युग के अन्य प्रेमाख्यानक काव्य-ग्रंथों की भाँति इस ग्रंथ की कथावस्तु में भी लेखक का ध्यान इस बात की ओर नहीं जाता कि कौनसी घटना को किस प्रकार प्रस्तुत करने से उसका कैसा प्रभाव होगा। वह अपनी बात कहने में घटनाओं को अपनी रचि के अनुसार मोड़ता रहता है। पाठकों को चाहे वे स्वाभाविक जान पड़ें, चाहे अस्वाभाविक। उसे अपनी बात कहनी है और वह कहेगा। जायसी को पद्मावती और रतनसेन के माध्यम से प्रेम का उज्ज्वलतम स्वरूप प्रस्तुत करना था। वे उसमें भूले हुए थे। इसलिए घटनाओं की ओर स्वतन्त्र दृष्टि डालने का उन्हें अवकाश न मिल सका; अथवा यो कहिये कि उन्होंने इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझी। सम्पूर्ण कथावस्तु प्रेम से आरम्भ होती है, प्रेम-वर्चा में उसका विकास होता है और प्रेम का प्रौढ़तर रूप प्रस्तुत करने में उसका पर्यवसान।

अपने युग के अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों की भाँति जायसी ने भी अपनी कथावस्तु का निर्माण राज दरबारों से किया है। नायक रतनसेन चितौड़ का राजा है और नायिका पद्मावती सिंहल की राजकुमारी। उस युग की परम्परानुसार पद्मावत की कथावस्तु का आरम्भ और अन्त कथा में नहीं हुआ है। आरम्भ में एक स्तुति-खण्ड है और अन्त में कवि अपनी बात कहने लगा है, जिसके लिए उसने इस ग्रंथ का निर्माण किया है।

पद्मावत में भी पशु-पक्षी एवं अमानुषिक शक्तियाँ यत्र-तत्र भाग लेती हुई दिखाई पड़ती हैं। पद्मावती का हीरामन, नागमती का पक्षी, राक्षस, शिव-पार्वती और लक्ष्मी इसी रूप में वर्णित है। वस्तुतः इस ग्रंथ में सुआ ही सारे प्रेम-व्यापार के मूल में है। यदि सुआ न होता तो रतनसेन के हृदय में प्रेम का आरम्भ ही न होता। इसी कारण जायसी ने अन्त में हीरामन के महत्व को इन शब्दों में घोषित किया है—

“गुरु सुआ जेइ पंथ दिखावा।

बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥”

सम्पूर्ण कथा प्रेम के ही इर्द-गिर्द घूमती है।

‘पद्मावत’ की कथावस्तु को हम प्रमुख रूप से दो भागों में बाँट सकते हैं—

१. पूर्वाद्ध षट्ऋतु वर्णन खंड तक।

२. उत्तराद्ध नागमती वियोग खंड से आगे तक।

पूर्वाद्ध में प्रेम की पीर एवं प्रेम-पथ की यात्रा का वर्णन है और उत्तराद्ध में प्रेम-परीक्षा की जाती है। उत्तराद्ध में घटनाएँ अधिक हो गई हैं। इस नाते वह भागों-उपभागों में बाँट जाता है। चरित्रों के विकास में कथानक कहीं-कहीं उगमगाता-सा नजर आता है और कहीं-कहीं अत्यन्त दृढ़ रूप में भी परिवर्तित होता है। पद्मावती

के विवाहोपरान्त रतनसेन का चरित्र हल्का दिखाया गया है। पद्मावती का चरित्र वहाँ दृढ़तर है। कवि ने जौहर-खंड का निर्माण कर अपने काव्य को अमर बना दिया है। प्रेम का जो उदात्त स्वरूप हमें वहाँ मिलता है, वंसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस दृष्टिकोण से पद्मावती का कथानक अत्यन्त सफल है। वंसे सम्पूर्ण कथावस्तु को हम गठी हुई और सर्वथा शक्त नहीं मान सकते। उसमें अनेक कमजोरियाँ भी हैं। कवि का सन्तुलन सर्वत्र ठीक नहीं रह सका है। चरित्रों का विकास स्वाभाविक ढंग से नहीं हुआ है। मानवीय शक्तियाँ अपने प्राकृतिक रूप में सर्वत्र नहीं आई हैं। एक वाक्य में हम यह कहेंगे कि सारी कथावस्तु प्रेमरस से सराबोर है कवि को अपनी बात कहने में पर्याप्त सफलता मिली है।

पात्र

पद्मावती के पात्रों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं—

१. अलौकिक।

२. लौकिक।

अलौकिक पात्रों में शिव, पार्वती तथा लक्ष्मी आती है। शिव और पार्वती को कवि ने अलौकिकतामय दिखाया है तथा लक्ष्मी को अलौकिक चरित्र स्वीकार करते हुए भी लौकिक रूप में चित्रित किया है। कवि के शब्दों में ही लक्ष्मी का लौकिक रूप देखिए—

“लखमिनी चंचल नारि परेवा । जेहि सत देखु छरं कं सेवा ॥
रतनसेनि आवं जेहि घाटा । अगमन होइ बेंठी तेहि बाटा ॥
ओभे पदमावति कं रूपा । कीन्हैसि छाँह जरं जेहि भूपा ॥
देखि सो कँवल भँवर सोइ धावा । साँस लीन्ह पं बास न पावा ॥
निरखत आई लखमिनी दीठी । रतनसेन तब दीन्ही पीठी ॥”

इस पर भी—

“पुनि धनि फिर आगं भे रोई ।
पुरुख पीठि कस देखि बिछोई ॥”

वह रतनसेन को विश्वास दिलाती है—

“हौं पद्मावति रानी रतनसेन तू पीउ ।

आनि समुद महुँ छाड़ेउ अब रोवौं देइ जीउ ॥”

इस प्रकार लक्ष्मी एक लौकिक स्त्री की भाँति हमारे सामने आती है।

पार्वती और शिव क्रमशः रतनसेन के प्रेम की परीक्षा लेकर उसके सहायक के रूप में चित्रित हैं। देखिये, रतनसेन के सिंहल पहुँचने पर भवानी एक सुन्दर अप्सरा का रूप धारण कर कितनी चतुराई से उसके प्रेम की परीक्षा ले रही है—

“सुनहु कुँवर मोसों यह बाता । जस मोहि रंग न औरहि राता ॥

श्री विधि रूप बीन्ह है तोकाँ । उठा सो सबद जाइ सिव लोकाँ ॥

तब हौं तोकहँ इन्द्र पठाई । गं पदुमिनि तैं आछरि पाई ॥

परन्तु रत्नसेन अपूर्व दृढ़ता के साथ कहता है—

“भलेहि रंग तोहि आछरि राता ।

‘ मोहि दोसरे सों भाव न भाता ॥”

इस प्रकार रत्नसेन अपनी परीक्षा में सफल होता है ।

यही रत्नसेन विषम परिस्थितियों के चक्र में फँसकर जब किकर्तव्यविमूढ़ होकर जल-मरने को तैयार होता है, उन्ही समय शिव ने आकर उसे सिद्धि गुटका दिया और सिंहलगढ़ में घुमने का मार्ग बताया । गन्धर्वसेन जब उसे शूली देने को तैयार था उस समय भी शिव ने ही उसकी रक्षा की । अलौकिक पात्रों के रूप में ही जायसी ने राम और कृष्ण के व्यक्तित्वों को भी अन्तर्कथाओं के माध्यम से स्वीकार किया है ।

पद्मावत में आये लौकिक पात्रों के रूप में चित्रित चरित्रों को भी हम दो वर्गों में बाँटेंगे —

१ काल्पनिक २. प्राकृतिक ।

काल्पनिक पात्रों में राक्षस आता है जिम्ने सिंहल से लौटते समय समुद्र में रत्नसेन को बड़ा कष्ट दिया था ।

प्राकृतिक चरित्र भी दो कक्षाओं में आते हैं—

१ पशु-पक्षी ।

२. मानव ।

पद्मावती का हीरामन तथा नागमती का पक्षी प्रथम श्रेणी में आते हैं । इनका प्रयोग दूत रूप में हुआ । ये दोनों मानव की भाँति ही कार्य करते हैं । हीरामन पद्मावती के पथ का सहायक है और पक्षी नागमती के पथ का । पक्षी होने के नाते इनका सभी विश्वास करते हैं अपने कार्य में दोनों पूर्ण सफल हुए हैं । इसके अतिरिक्त ग्रंथ में इनका और कोई महत्व नहीं । इसी कारण पद्मावती-रत्नसेन के मिलन के पश्चात् हीरामन का क्या हुआ, हमें कुछ पता नहीं चलता ।

मानव-पात्रों में स्त्री और पुरुष दोनों आते हैं । पुरुषों में नायक, प्रतिनायक तथा अन्य पात्र हैं और इसी भाँति स्त्री-पात्रों में भी नायिका, प्रतिनायिका तथा अन्य पात्र हैं । रत्नसेन नायक तथा राजकुमारी पद्मावती नायिका हैं । अलाउद्दीन प्रतिनायक तथा नागमती प्रतिनायिका हैं । शेष स्त्री-पुरुष अन्य पात्रों की श्रेणी में चित्रित हैं ।

चरित्र-चित्रण

नायक रत्नसेन के चरित्र में पर्याप्त दृढ़ता है । गुणों के समक्ष उसकी कमजोरियाँ बहुत थोड़ी हैं । रत्नसेन सब पर विश्वास नहीं करता, अपने को अधिका-

धिक बुद्धिवाला समझता है। भूठ बोलता है, राजनीतिक दाँव-पेंच में कच्चा है। इसमें बीरोचित उत्साह पाया जाता है। यह अपने बाहुबल पर भरोसा रखता है। प्रेम-पथ की कठिनाइयों से विचलित नहीं होता। प्रेम सबन्धी समस्त संकल्पों में अत्यन्त ही दृढ़ है। उसमें धीरोदात्त नायक की समस्त विशेषतायें विद्यमान हैं।

प्रतिनायक के चरित्र-चित्रण में भी जायसी को सफलता मिली है। अलाउद्दीन के प्रति पाठकों के हृदय में घृणा का भाव उत्पन्न कर देने में जायसी पूर्ण समर्थ हुए हैं।

नायिका पद्मावती राजा गन्धर्वसेन की अविवाहिता कन्या है। उसके चरित्र में भी पर्याप्त दृढ़ता और उज्ज्वलता है। देखिये, रत्नसेन की शूली की आज्ञा सुनकर वह कितना दृढ़ सन्देश उसके पास भेजती है—

“काढ़ि प्रान बंठी लेइ हाथा ।

मरै तो मरौं जिअौं एक साथी ॥”

इसी प्रकार देवपाल की दूती से वह कहती है—

“रँग ताकर हौं जारौं राचा ।

आपन तज जो पराएहि लाचा ॥”

× × ×

“जोबन मोर रतन जहँ पीऊ ।

बलि सौंपो यह जोबन जीऊ ॥”

पद्मावती की चर्चा करना तो व्यर्थ ही है। वह विश्व की सर्वश्रेष्ठ एवं अनिन्द्य सुन्दरी है।

प्रतिनायिका नागमती के चरित्र को भी जायसी ने खूब निखारा है। वह भी पर्याप्त सौंदर्य तथा रत्नसेन के प्रति एकनिष्ठ पवित्र प्रेम रखती है। उसके प्रेम की ऊँचाई पद्मावती भी नहीं छू पाती। उसका प्रेम आदर्शमय और निर्मल है। पक्षी के द्वारा भेजे जानेवाले सन्देश में उसके प्रेम का यही आदर्श और निर्मलता स्पष्ट है।

“पदमावति सौं कहेउ बिहंगम ।

कंत लोभाय रही करि संगम ॥”

× × ×

“अबहु मया कर कर जिउ फेरा ।

मोहि जियाउ कंत देइ मोरा ॥

मोहि भोग सौं काज न बारी ।

मोहि तीरि कं जावन बारी ॥

सवति न होसि तू बैरनि, मोर कंत जेहि हाथ ।

आनि मिलाव एक बेर तोर पाँय मोर माथ ॥”

परन्तु स्त्री होने के नाते नागमती और पद्मावती दोनों में पर्याप्त दुर्बलताएँ भी हैं । सफलता इसी में है कि एक ही पति से दोनों प्रेम करती है, इस नाते उसकी मृत्यु के उपरान्त दोनों एक साथ सती हो जाती हैं ।

पद्मावत के पात्रों को कवि ने साकेतिक माध्यम या प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, परन्तु उसे इस दिशा में पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकी है । सभी पात्रों के चरित्र की दुर्बलताएँ उसे प्रतीकों के आसन से गिरा देती हैं । पद्मावती का नागमती से वादविवाद एवं रत्नसेन के प्रति एकाधिपत्य की भावना का अनुभव आदि उसकी कमजोरियाँ हैं । वह सुन्दरी है, दृढ़ प्रेमिका है, प्रथम अविवाहित तथा राजकुमारी है—यह उसके चरित्र का सबल पक्ष है । इसी प्रकार नायक राजा रत्नसेन अनेक गुणों को धारण करता हुआ भी बहुपत्नीत्व स्वीकार करने के नाते अपने प्रतीकत्व की रक्षा नहीं कर पाता । अभिप्राय यह है कि रत्नसेन जीवात्मा तथा पद्मावती परमात्मा का प्रतिनिधित्व करने में पूर्ण सफल नहीं है ।

सुआ को गुरु का प्रतीक जायसी ने माना है, पर उसके चरित्र में गुरु के अनुकूल गम्भीरता तथा ज्ञान-भरिमा का अभाव है । इस कारण यह प्रतीक भी अपने स्थान पर ठीक नहीं कहा जा सकता । ‘नागमती दुनियाँ धन्धा’ होकर पद्मावती के बराबर हो जाता है । यहाँ भी कवि प्रतीकत्व की रक्षा करने में असफल है । इसी प्रकार अन्य पात्रों की भी स्थिति है ।

कथोपकथन

इसमें सन्देह नहीं कि ‘पद्मावत’ के कथोपकथन सबल, सरस तथा स्वाभाविक हैं । इस दिशा में जायसी को पर्याप्त सफलता मिली है । सबसे बड़ी विशेषता जायसी के कथोपकथन की यह है कि उनके माध्यम से ही चरित्रों का विकास हुआ है । नीचे हम कुछ ऐसे स्थलों का संकेत कर रहे हैं जो जायसी की कथोपकथन कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं और इनके द्वारा क्रमशः नागमती, रत्नसेन और पद्मावती के चरित्रों का विकास हुआ है ।

१. नागमती-सुआ संवाद

२. नागमती-धाय संवाद

३. रत्नसेन प्रस्थान के समय नागमती-रत्नसेन संवाद

४. नागमती और उसकी सखी संवाद (नागमती के चरित्र का भव्य स्वरूप)

५. नागमती-पक्षी संवाद (जायसी के काव्य की काव्यात्मकता का चरमबिन्दु)

६. चित्तौड़ लौटने पर नागमती-रत्नसेन संवाद ।

१०. पद्मावती-नागमती संवाद (कथोपकथन का सर्वोत्कृष्ट रूप)

८. सती होने के समय नागमती के वचन ।

९. रत्नसेन-सुग्रा सम्वाद

१०. रत्नसेन-पार्वती सम्वाद

११. रत्नसेन-नागमती सम्वाद

१२. रत्नसेन-अलाउद्दीन दूत सम्वाद

१३. पद्मावती-सुग्रा सम्वाद

१४. पद्मावती-राजा सम्वाद

१५. पद्मावती-लक्ष्मी सम्वाद

१६. पद्मावती-गोरा बादल सम्वाद

१७. पद्मावती-देवपाल-दूती सम्वाद

इसी प्रकार अन्य अनेक ऐसे स्थल प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमें कवि की कथोपकथन-कला का सुन्दर प्रमाण मिलेगा । कथोपकथन का सौन्दर्य ही जायसी की कहानी में जान डाल देता है, अन्यथा पूरे काव्य में एक विचित्र-सी नीरसता छाई होती । जायसी का कथोपकथन उनकी कहानी-कला के विकास में अपूर्व योग देने वाला है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ।

शैली

पद्मावत मसनवी शैली का ग्रंथ है । जायसी को अपनी बात कहने के लिए इससे सुन्दर ढंग उस समय कोई प्राप्य भी नहीं था । यदि हम उनकी शैली का विवेचनात्मक अध्ययन करें तो प्रमुख रूप से उनके काव्य में हमें उनकी शैली के निम्न तीन रूप प्राप्त होते हैं—

१. कथोपकथन की शैली ✓

२. वर्णनात्मक शैली ✓

३. उपदेशात्मक शैली ✓

अपनी शैली के इन विविध रूपों में जायसी को अपनी बात कहने में काफी सहायता मिली है । शैली की दृष्टि से काव्य में उनका विशिष्ट महत्त्व है । हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास के लिए भी शैली का पथ जायसी द्वारा तैयार किया गया था । दोहे-चौपाइयों में कहे उनके वाक्य बड़े ही सरस और प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं । चंदबरदाई का साहित्य अभी विद्वानों के वाद-विवाद में उलझा हुआ है । इस प्रकार उसे छोड़ देने पर जायसी ही हिन्दी के प्रथम महाकाव्यकार ठहरते हैं और उनकी शैली आदर्श शैली कही जाती है । रामचरितमानस जैसा महाग्रंथ भी पद्मावत की शैली पर ही लिखा गया । अतः हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि शैली के क्षेत्र में जायसी का स्थान बड़े गौरव का है ।

उद्देश्य

कहानी-कला के विकास का अन्तिम बिन्दु उद्देश्य होता है। पद्यावत की कहानी कला का उद्देश्य युग के अन्य प्रेमालोक्य कलाओं की भाँति प्रेम का उपदेश उपस्थित करना है। लौकिक प्रेम के माध्यम से पारलौकिक प्रेम की ओर पाठकों को उन्मुख करना, यही जायसी की कहानी का प्रमुख ध्येय कहा जायगा। साथ ही कहानी के सरस और मनोरम आवरण में सूफी सिद्धान्तों को कुशलता के साथ पिरो देना भी कवि नहीं भूला है। इस दृष्टि से 'पद्यावत' की कहानी-कला अपने में कुछ कम-जोरियों को समेटे हुए भी काफी सफल है।

काव्य-सौन्दर्य

पद्यावत के काव्य-सौन्दर्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें उसके अन्तरंग-वहिरंग अर्थात् भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों पर एक विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

जहाँ तक पद्यावत के भाव-पक्ष का प्रश्न है, जायसी ने अपनी काव्यकुशलता का चरम बिन्दु उसमें प्रतिष्ठापित कर दिया है। भाव-पक्ष का जो भव्य स्वरूप हमें पद्यावत में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार कवि का कलापक्ष भी अत्यन्त प्रौढ़ है। वस्तुतः भावपक्ष और कलापक्ष एक दूसरे के पूरक हैं। भाव-पक्ष का सौन्दर्य कला-पक्ष के माध्यम द्वारा ही उद्घाटित होता है। दोनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रय है। एक को यदि काव्य की आत्मा कहेंगे तो दूसरे को काव्य का शरीर। दोनों के साम-जस्य से ही काव्य की स्थिति है।

भावपक्ष

भावपक्ष के तीन उपाग हैं रागात्मक तत्त्व, बुद्धि-तत्त्व और कल्पना-तत्त्व। पद्यावत में इन तीनों तत्त्वों का बड़ी कुशलता से प्रतिपादन किया गया है। कुछ उदाहरण लीजिये—

“पदुमिनि गबैन हँस गए दूरी । कुंजर लाजि मेल सिर धूरी ॥
बदन देखि घरि चंद छपाना । दसन देखि कै बीजु लजानी ॥
खंजन छपा देखि कै नैना । कोकिल छपा सुनत मधु बँना ॥
भुजन छपानि कैवल पौनारी । जाँघ छपा कदली होइ बारी ॥”

×

×

×

“अनचिन्ह पिय कांपे मनमाँहा । का मै कहब गहब जब बाँहा ॥
बारि बएस गौ प्रीति न जानी । तरुनि भई मँमंत भुलानी ॥
जोबन गरब न किछु मै चेता । नेहन जानौ साम कि सेता ॥
अब सो कँत जो पूछिहि बाता । कत मुख होइहि पीत किराता ॥
करि सिंगार तापहँ कहँ जाऊँ । ओहि कहँ देखौ ठाँवहि ठाँऊ ॥
जो जिउ मँह तो उहै पियारा । तन मक सो नहिँ होई निनारा ॥

नैनन्ह मांह तो उहै समाना । देखऊ जहाँ न देखउ पाना ॥

×

×

×

“काह हँसो तुम मँसो, किएउ और सँ नेहु ।
तुम मुख चमकँ बीजुरी, हम मुख बरसँ मेहु ॥”

×

×

“नागमती तू पहिलि बियाही । कान्ह पिरीति दही जसि राही”
बहुतें दिनन्ह आवै जौ पीऊ । धनि न मिलै धनि पाहन जीऊ ॥”
“उन्ह बानन्ह असको जो न मारा । बेधि रहा सगर संसारा ॥
गगन नखत जो जाहि न गने । बँ सब बान ओहि के हने ॥”

×

×

×

“सूरज बूड़ि उठा होइ ताता । औ मजीठ टेसू बन राता ॥
भा बसंत राती बनसपती । औ राते सब जोगी जती ॥
भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू । औ राते सब पंखि पखेरू ॥
राती सती अग्नि सब काया । गगन मेघ राते तेहि छाया ॥”

इसी प्रकार अनेक उत्कृष्ट और मनोमुग्धकारी स्थल प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिन्हें पढ़कर सहृदय भावुक जन विभोर हो उठते हैं ।

रस काव्य की आत्मा और भाव-पक्ष का प्राण है । पद्यावत में प्रधानतः शृंगार रस का ही वर्णन है । इसके संयोग और वियोग दोनों पक्षों का कवि ने सांगोपांग निरूपण किया है । शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का चित्रण बहुत ही कम हुआ है । हास्य का प्रायः अभाव-सा है । करुणा का चित्रण दो प्रसंगों में मिलता है—एक तो रत्नसेन के योगी होने पर और दूसरा देवपाल से युद्ध करते हुए जाने पर । रौद्र की झलक तब दिखाई देती है जब रत्नसेन अलाउद्दीन का पत्र प्राप्त करता है । वीररस की व्यंजना युद्धों में हुई है । युद्ध-वर्णन में भयानक और वीभत्स रसों के चित्र भी सामने आ गये हैं । कवि ने जहाँ अपने वर्णनों में चमत्कारवादिता दिखाई है और संसार की नश्वरता का प्रतिपादन किया है, वहाँ क्रमशः अद्भुत और शांतिरस की सृष्टि हुई है । अभिप्राय यह है कि रसों के वर्णन में कवि सफल रहा है । उसने अपने ग्रंथ में शृंगार रस का रस-राजत्व प्रदर्शित किया है ।

कलापक्ष

कलापक्ष में शब्दशक्ति, अलंकार, गुण, छन्द और भाषा-शैली आदि का समावेश होता है । इस दृष्टि से भी कवि को अपने कार्य-व्यापार में पर्याप्त सफलता मिली है । उसका कलापक्ष पूर्ण सशक्त और सम्पन्न है । कवि ने अभिधा लक्षणा और व्यंजना तीनों शब्द शक्तियों से काम लिया है । पद्यावत में उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति और तद्गुण आदि अलंकारों की प्रचुरता पाई जाती है । गुणों में प्रसाद और साधुय की प्रधानता है । छन्दों में कवि ने दोहा और चौपाई का क्रम अपनाया है । भाषा ठेठ अवधी है । कहीं-कहीं ब्रज और बंगला के भी कुछ शब्द तद्भव रूप में मिलते हैं । पूरा पद्यावत मसनवी ढाँचे में ढला होने पर भी कवि की

मौलिकता से संपृक्त है। फारसी और भारतीय दोनों शैलियों का इस ग्रंथ में अद्भुत मेल पाया जाता है। इस प्रकार कवि ने हिन्दू और मुस्लिम दोनों संस्कृतियों का सम्मिलन कराया है।

पद्यावत का काव्य-सौन्दर्य अनुपम है। भाव और शैली आदि सभी दृष्टियों से यह ग्रंथ उत्कृष्ट है। इसमें कवि की काव्यकला का भव्यतम रूप प्रस्फुटित हुआ है। काव्य-सौन्दर्य में इस महाकाव्य की समता रामचरितमानस के अतिरिक्त हिन्दी का अन्य कोई ग्रंथ नहीं कर सकता। जायसी के कवि ने इसे अपने कुशल हाथों से स्वयं ही सँवारा है। इसी नाते यह इतना बहुमूल्य ग्रंथ बन सका।

महाकाव्यत्व

विद्वानों द्वारा निर्धारित महाकाव्य के समस्त लक्षण पद्यावत में पाये जाते हैं।

१. पद्यावत की कथा इतिहास-प्रसिद्ध कथा है। कवि ने उसमें अपनी कल्पना का समावेश कर, उसे एक अद्भुत स्वरूप प्रदान किया है। इससे उसकी उत्कृष्टता ही बढ़ती है।

२. ग्रंथ में ५७ सर्ग हैं, जिनका नाम वर्णनीय कथा पर है।

३. नायक धीरोदात्त, उच्च क्षत्रिय वंश का है और नायिका भी ऐसी ही है।

४. ग्रंथ में शृंगार रस की प्रमुखता और साथ ही अन्य रसों का भी समावेश है।

५. पद्यावती रूप ईश्वर की प्राप्ति ग्रंथ के नायक का लक्ष्य है।

६. प्रातः, मध्याह्न, संध्या और रात्रि, सूर्य, चन्द्रमा, मृगया, पर्वत, वन, ऋतु, समुद्र, यात्रा, यश, संग्राम, विवाह, मंत्र आदि सबका यथासम्भव सांगोपांग वर्णन है। इसके अतिरिक्त ग्रंथ की कुछ अपनी विशिष्टताएँ भी हैं। इसीलिए यह असंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है कि पद्यावत हिन्दी का प्रथम और सफल महाकाव्य है।

दार्शनिकता और रहस्यवाद

जायसी निर्गुण भक्ति की प्रेमाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि सूफी कवि हैं। सूफी सिद्धान्तों का उनके काव्य में पूर्ण समावेश होना स्वाभाविक है। पद्यावत में उन्होंने जीवात्मा और परमात्मा का उन्हीं सिद्धान्तों पर तात्त्विक दृष्टि में अभेद का वर्णन किया है। लौकिक दृष्टि में जीव को ब्रह्म के प्रति प्रेमानुमुख माना है। ब्रह्म की कल्पना उस शक्ति के रूप में उन्होंने की है जिसने प्रथम ज्योति (नूर) की सृष्टि की और फिर उसके द्वारा अखिल विश्व का निर्माण हुआ। उनका ब्रह्म अजन्मा है—

“जना न काहु न कोई ओहि जना। जहं सगि सब ताकर सिरजना॥”

यह चराचर, अखिल सृष्टि उसी अनन्त और प्रेममय को पाना चाहती है।

“पावन जाइ तहँ पहुँचे चहा। मारा तैस लोटि भुँई रहा।”

अग्नि उठी जरि बुद्धि निगाना। धुँआ उठा उठि बीच बिलाना॥

पानि उठा उठि जाई न छूआ। बहुरा रोइ, आइ मुँई छूआ॥”

प्रकृति के समस्त तत्व इसी आशा से जीवन के सहज धर्म को धारण करते हैं कि एक दिन हम उससे अवश्य मिलेंगे ।

सूफी सिद्धान्तों में साधक की चार अवस्थाएँ बताई गई हैं । पद्मावत में उनका संकेत है—“चारि बसेरे जो चढ़ सक सो उतरै पार ।” शरीरगत, तरीकत, हकीकत और मारिफत यही चार अवस्थाएँ हैं, जिन्हें साधक को पार करना पड़ता है । तब उसे ब्रह्म के दर्शन होते हैं । जायसी का ब्रह्म पूर्ण प्रेममय है । पद्मावती ज्ञान या बुद्धि की प्रतीक है और यथासम्भव प्रेममय परमेश्वर के समस्त गुणों से युक्त है । उसकी प्राप्ति का मार्ग बतानेवाला गुरु सुआ है । रत्नसेन के पथ पर चलने वाला साधक जीवात्मा है । नागमती को मार्ग की बाधा के रूप में ग्रहण किया गया है । डा० मुधीन्द्र ने इसे ‘काया’ कहा है । साधक को भटकाने वाला शैतान राघवचेतन है । अलाउद्दीन माया का प्रतीक है ।

जायसी के सूफी सिद्धान्तों पर भारतीय नाथपंथ का पूर्ण प्रभाव है । ग्रंथ में गुरु की महत्ता सर्वोपरि स्वीकार की गयी है । डा० मुधीन्द्र के शब्दों में—‘जायसी सूफी होने के नाते निर्गुण निराकार ब्रह्म (खुदा) की माधुर्य भावमूलक, प्रेम प्रधान, प्रणय साधना के पोषक हैं । समस्त ‘पद्मावत’ सूफी जायसी के ज्ञान का रूपात्मक पदार्थ पाठ है । उसमें अपने सिद्धान्त, जीव की ब्रह्म प्राप्ति की साधना को रूपक कथा के आवरण में प्रस्तुत किया है—

“चौबह भुवन जे तर उपराही । ते सब मानुष के घट माहीं ॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा । हिय सिंहल बुधि पदमिन चीन्हा ॥
गुरु सुआ जेहि पँथ दिखावा । बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनिया धँधा । बाँचा सोइ न एहि चित बँधा ॥
राघव दूत सोई सैतान् । माया अलाउद्दीन सुलतान् ॥
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु । बूझि लेहु जो बूझै पारहु ॥”^१

जायसी का मन्तव्य यह है कि ज्ञानरूप ब्रह्म (खुदा) की प्राप्ति के साधक भक्त को अपने मन को निर्गुण परमेश्वर में लीन करना चाहिए । उसके स्वरूप की पहचान बिना सद्गुरु के ज्ञान-दान के नहीं होती । सासारिक मोह (माया और स्वजन-परिजन) के बधनों को टुकराकर ही जो ‘शैतान’ और ‘माया’ को विजय कर लेता है वह परमेश्वर को पाता है ।

पद्मावत में लौकिक प्रेम के माध्यम से पारलौकिक प्रेम की प्राप्ति-साधना का दिग्दर्शन कराया गया है । सम्पूर्ण ग्रंथ में दार्शनिक और रहस्यवादी विचारों का समावेश है । ‘पद्मावत’ के सृजन में कवि का प्रमुख लक्ष्य ही यही था । इस दृष्टिकोण से उसे पर्याप्त सफलता मिली है ।

अन्य विशेषताएँ

‘पद्मावत’ एक सुन्दर प्रबन्ध काव्य है। उसके अन्तरंग और बहिरंग दोनों में कवि की काव्य-कला का उत्कृष्ट स्वरूप मिलता है। वह हिन्दू और मुस्लिम दोनों संस्कृतियों के सम्मिलन का एक सफल प्रयास है। मुसलमान कवि के द्वारा भारतीय कहानी का अपनाया जाना और उसमें वर्णित देवी देवताओं को उचित श्रद्धा की दृष्टि से कवि द्वारा देखा जाना, पद्मावत की उत्कृष्टता की ओर संकेत करता है। इस ग्रंथ में भारतीय जीवन की एक सुन्दर भाँकी मिलती है। साथ ही तत्कालीन विविध परिस्थितियों का उल्लेख भी है।

पद्मावत की सबसे बड़ी विशेषता, जो उसे भारतीय साहित्य के श्रेष्ठ ग्रंथों में स्थान देती है, यह है कि उसमें मानव-जीवन की प्रधान वृत्ति-प्रेम-का सांगोपांग निरूपण और प्रतिपादन हुआ है। प्रेम की महत्ता सर्वोपरि स्वीकार की गई है। प्रेम के सम्मुख स्वर्ग तक को त्याज्य और हेय बताया गया है। अखिल चराचर प्रेममय ब्रह्म की छाया है, उसे पहिचानना जीव धर्म है। प्रकृति से प्रेम करके ही जीव ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।

अपनी इन विशिष्टताओं के कारण ‘पद्मावत’ एक उच्चकोटि का ग्रंथ है। भारतीय साहित्य में उसका स्थान अन्यतम है।

पद्यावत में संयोग शृङ्गार

प्रेम की पीर के श्रमर गायक कविवर जायसी का पद्यावत शृङ्गार-प्रधान काव्य है। वैसे अन्य रसों का भी उसमें यथास्थल समावेश हुआ है, किन्तु सम्पूर्ण काव्य में शृङ्गार रस ही प्रमुख रूप से रम रहा है। शृङ्गार रस के संयोग और वियोग दो मुख्य भेद होते हैं। पद्यावत में इन दोनों भेदों को उचित प्रश्रय मिला है। इसका प्रधान कारण यह है कि सूफियों के प्रेम में विरह को प्रमुखता दी जाती है। उस परम प्रियतम से भिन्न जीवात्मा तथा सम्पूर्ण प्रकृति की उससे मिलने की उत्कंठा और व्याकुलता विरह रूप में ही चित्रित हुई है। इस अलगवत या विरह से सारी सृष्टि व्यथित है। सभी उस महामिलन के अभिलाषी हैं। सूफी काव्यों में इस पक्ष की बड़ी विशद विवेचना की गई। संयोग पक्ष का भी वर्णन सूफी कवियों ने किया है और सुन्दर वर्णन किया। उसमें पर्याप्त रमणीयता है किन्तु इस पक्ष का अपेक्षित सांगोपांग विवेचन नहीं हो पाया है। फारस शैली के प्रभाव और तीव्र आध्यात्मिक झुकाव ने रस-भंग उपस्थित कर दिया है। कहीं-कहीं तो वर्णन बड़ा ही स्थूल और निकृष्ट कोटि का हो गया है जिससे कवियों की महानता को भारी धक्का भी पहुँचा है। हमारे कविवर जायसी में भी उपर्युक्त सभी गुण-दोष पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं।

‘पद्यावत’ की कथा रत्नसेन और पद्यावती तथा नागमती को लेकर चलती है। संयोग शृङ्गार के लिए नागमती और पद्यावती दोनों महत्वपूर्ण हैं। डा० रामरतन भटनागर के शब्दों में—“साधना की दृष्टि से नागमती और पद्यावती में चाहे जो अंतर हो, साहित्य की दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। दोनों रत्नसेन की प्रिया हैं। जहाँ तक नागमती और रत्नसेन के संयोग का प्रश्न है, इसका वर्णन केवल एक स्थल पर आया है— जब रत्नसेन सिंहल से लौटकर नागमती के पास जाता है। परन्तु वस्तुतः वह मिलन भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसमें अघिकांश नागमती द्वारा मान-प्रदर्शन और सपत्नी के प्रति ईर्ष्याभाव ही व्यक्त हुआ है।”^१ रात्रि में रत्नसेन जब नागमती के कक्ष में पहुँचता है तो यह पद द्रष्टव्य है—

‘नागमती मुख फेरि बड़्ठी। सौँह न करे पुरुष सौँ डीठी।

और उससे कहती है—

“प्रीतम जरत छाँड़ि जो जाई । पावस आव कवन मुखलाई ॥”

तथा—

“काह हंसो तुम मो सों, किएउ और सों नेह ।

तुम्ह मुख चमकें बीजुरी, मोहि मुख बरिसैं मेह ॥”

सपत्नी पद्मावती के प्रति यह ईर्ष्याभाव तथा पति रत्नसेन के प्रति यह व्यंग-भरा प्रेम बिल्कुल स्वाभाविक है, किन्तु संयोग का माधुर्य यहाँ नष्ट हो गया है । रत्नसेन का यह कहना—

“नागमति तू पहिल बियाही । कठिन पीठ दाहैं जस बाही ॥

बहुत दिनन आव जो पीऊ । धनि न मिले धनि पाहन जीऊ ॥

काह भऐउ तन दिन दस बहा । जौ बरखा सिर ऊपर अहा ॥”

तो वातावरण को और भी हल्का कर देता है । रत्नसेन का यह सारा कथन उसका फुसलाना प्रतीत होता है । संयोगकालीन मधुमय वातावरण की सृष्टि में इससे कोई योग नहीं मिलता ; किन्तु कवि जब आगे कहता है—

“कंठ लाइ कै नारि मनाई । जरी सों बेलि सींचि पलुहाई ॥”

तो वातावरण में एक नई जिन्दगी आ जाती है और पहले की उदासी के स्थान पर एक मुस्कान खेल जाती है, भले ही वह क्षणिक होती है । इतना करने पर ही तो—

“करे सहस साख होइ बारिउँ-बाख-जंभीर ।

सबै पंख मिलि आइ जोहारे, लौटि उहँ भइ भीर ॥”

×

×

×

“पलुही नागमती कै बारी । सोने फूल-फूलि फुलवारी ॥

सग सहेली नागमति, आपनि बारी माँह ।

फूल चुनहिँ, फल तूरहिँ, रहसि कूबि सुख-छाँहि ॥”

×

×

×

इस तरह हम देखते हैं कि कवि ने रत्नसेन और नागमती के संयोग में पर्याप्त मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक कटुता को प्रदर्शित करते हुए भी आवश्यक सरसता का यथास्थल निर्देश कर ही दिया है जिसकी रमणीयता पाठक के हृदय पर अपनी छाप अंकित किए बिना नहीं रहती ।

पद्मावती और रत्नसेन के संयोग-पक्ष में हमें प्रमुख रूप से ये स्थल मिलते हैं—

१. बसन्त खण्ड,

२. विवाह तथा पद्मावती रत्नसेन-भेंट खण्ड ।

३. पदऋतु वर्णन ।

१. बसन्त खण्ड—जहाँ तक बसन्त खण्ड की बात है, उसमें संयोग का पूर्ण विधान नहीं हो पाया। पद्मावती अपनी सखियों के साथ जब रत्नसेन तथा उनके साथ के अन्य योगियों को घेर लेती है उस समय दोनों के दृग मिलते हैं, परन्तु अपूर्व सुन्दरी पद्मावती के मनमोहक रूप को देखकर रत्नसेन मूर्छित हो जाता है। पद्मावती भी तोते के कथनानुसार सहस्रों किरणों वाले सूर्य रूपी रत्नसेन को देखकर मन्त्रमुग्ध हो जाती है, किन्तु रत्नसेन का मूर्छित हो जाना संयोग की सृष्टि में विघ्न डाल देता है। प्रथम मिलन का सारा माधुर्य नष्ट हो जाता है। राजा के मूर्च्छित हो जाने पर पद्मावती उसके वक्षस्थल पर इस आशा से चन्दन लगा देती है कि शायद वह जग जाय, किन्तु ठंडक पाकर वह और भी सो जाता है। अन्ततः पद्मावती इस असफल मिलन की बात उसके वक्षस्थल पर चन्दन के अक्षरों में लिखकर वापस चली आती है। इस प्रकार मिलन का यह नीरस दृश्य समाप्त होता है। जायसी का साधक रूप ही यहाँ अधिक उभरा है, कवि रूप नहीं। इसी से वर्णन में अपेक्षित सजीवता नहीं है। हाँ, उसका अपना एक अलग आकर्षण अवश्य है जो सहृदय पाठकों को अपनी ओर खींचे बिना नहीं रहता।

२. विवाह-खंड—संयोग पक्ष का वास्तविक आरम्भ तो पद्मावती-रत्नसेन के विवाह खंड से ही होता है। रत्नसेन बारात सजाकर आ रहा है। पद्मावती महल के सबसे ऊपरी भाग पर खड़ी होकर रत्नसेन की आती हुई बारात के अपरिमित सौंदर्य और साजबाज को देख रही है। उसका मन-मयूर आनन्दातिरेक से नाच रहा है। हृदय-सरोवर में कामना की चंचल लहरियाँ अटखेलियाँ कर रही हैं और रोम-रोम एक अपूर्व उल्लास से सिहर रहा है। कितना मादक और हृदयग्राही चित्र है—

“हुलसे नयन बरस भबसाते। हुलसे अधर रंग रस राते।
हुलसा बदन ओप रबि पाई। हुलसी हिया कंचुकि न समाई ॥
हुलसे कुच कसनी-बंद टूटे। हुलसी भुजा, बल्य कर फूटे ॥
हुलसी लंक कि रावन राजू। राम लखन बर सार्जहि आजू ॥
आजू चाँद घर आवा सूरू। आजू सिहार होइ सब चूरू ॥
आजू कटक जोरा हं कामू। आज बिरह सो होइ संग्रामू ॥
अंग-अंग सब हुलसे, केइ कतहूँ न समाइ।
ठाँवहि ठाँव बिमोही, गइ मुखछा गति आइ।”

यहाँ पर जायसी का कवि जागा है, जिसने साहित्य और मनोविज्ञान को एक साथ बाणी प्रदान की है। वस्तुतः इस वर्णन के शब्द-शब्द में जीवन डोल रहा है।

इसके उपरान्त विवाह होता है और विवाह के बाद पद्मावती-रत्नसेन के मिलन का आयोजन। ऐसे अवसर के उपयुक्त जायसी ने पहले कुछ विनोद का विधान किया है। सखियाँ पद्मावती को छिपा देती हैं और रत्नसेन मिलने को आतुर होता

है। सखियों ने शायद ऐसा कुछ छेड़-छाड़ करने के उद्देश्य से ही किया था, किन्तु इस विधान में जायसी को सफलता नहीं मिली है क्योंकि—“विनोद का कुछ भाव स्वल्प होने से पहले ही रसायनियों की परिभाषाएँ आ दबाती हैं। सखियों के मुख से ‘धातु कमाय मिखैं तौ योगी’ सुनते ही राजा भी धातुवादियों की तरह बरनि लगता है जिसमें पाठक या श्रोता का मन कुछ भी लीन नहीं होता।” ऐसा जायसी ने अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करने के लिए ही किया। फिर भी कुछ ऐसे स्थल-विशेष को छोड़कर जायसी ने कई रसपूर्ण स्थल भी प्रदान किए हैं।

सौंदर्य-चित्रण—पद्मावती जिम समय शृङ्गार करके राजा के पास जाती है, उस समय कवि कैसा मनोहर चित्र खड़ा करता है—

“साजन लेइ पठावा आयसु जाय न मेट।

तन, मन जोबन साजि कं देइ चली लेइ भेंट ॥”

इस दोहे में तन, मन और यौवन तीनों का अलग-अलग उल्लेख बहुत ही सुन्दर है। मन का साजना क्या है? समागम की उत्कंठा या अभिलाषा? बिना इस मन की तैयारी के तन की सब तैयारी व्यर्थ हो जाती।

प्रिय के पास गमन करते समय कवि ने परम्परा के अनुसार सौंदर्य का वर्णन कैसी सीधी-सादी भाषा में किया है—

“पदुमिनि गवन हंस गए दूरी। कुंजर साज मेल सिर धूरी ॥

बदन देखि घटि चद छपाना। बसन देखि कं बीजु लजाना ॥

खंजन छपे देखि कं नंना। कोकिल छपी सुनत मधु बना ॥

पहुँचहि छपी कंवल-पोनारी। जाँघ छपी कबली होइ बारी ॥”

इस प्रकार जायसी पहले तो सौंदर्य के साक्षात्कार से हृदय के उस आनन्द सम्मोह का दर्शन करते हैं जो मूर्च्छा की दशा तक पहुँचा हुआ जान पड़ता है। फिर राजा अपने दुख की कहानी तथा प्रेम-मार्ग में अपने ऊपर पड़े संकटों का वर्णन करके प्रेम-मार्ग की उस सामान्य प्रवृत्ति का परिचय देता है जिसके अनुसार प्रेमी अपने प्रियतम के हृदय में अपने प्रति दया या करुणा का भाव जाग्रत करने का प्रयत्न किया करता है।

हाव योजना—जायसी को हावों की सुन्दर योजना प्रस्तुत करने में असफलता मिली है। हाँ पद्मावती के स्वभाव सुलभ कुछ अनुभावों का वर्णन अवश्य सुन्दर प्रस्तुत किया है। तदुपरि कवि ने दोनों का मिलन कराया है जिसमें पर्याप्त सरसता है। यथा—

“कहि सत भाउ भएउ कँठ लागू। जनु कंपन सो मिला सोहागू ॥

चौरासी आसन वर योगी। खट रस बिबक चतुर सो भोगी ॥

कुसुम माल असि मालति पाई। जनु चम्पा गहि डार ओनाई ॥

करी बेधि जनु भँवर भुलाना । हना राहु अर्जुन के बाना ॥
 कंचन करी चढ़ी इन जोती । बरमा सौं बँधा जनु मोती ॥
 नारंग जानुं कीर नख देई । अधर आँबु रस जानहु लेई ॥
 कौतुक केलि करहिं दुख नेंसा । कुँवहिं कुलहिं जनु सर हेंसा ॥
 रही बसाइ बासना, चोवा चंदन मेव
 जो अस पदुमिनी राबैं, सो जानैं यह भेव ।”

×

×

×

“कहाँ जूझि जस रावन रामा । सेजि विधंस बिरह संग्रामा ॥
 लील लंक कंचन गढ़ दूटा । कील सिंगार अहा सब लूटा ॥
 ओ जोबन मँमंत विधंसा । बिचला बिरह जीव लें नंसा ॥
 लूटे अंग अंग सब भेसा । छूटी माँग, भंग भे केसा ॥
 कंचुकि चूरि, चूर भें ताने । दूटे हार, मोति छहराने ॥
 बारी टाड सलोनी दूटी । बाहैं कंकन कलाई फूटी ॥
 चंदन अंग छूट तस भेंटी । बेसरि दूटि, तिलक गा भेटी ॥
 पुहुप सिंगार सँवारि जो, जोबन नवल बसंत ।

अरगज जेउ हिय लाइ के मरगज कीन्हें कंत ॥”

इसमें सन्देह नहीं कि इस वर्णन में घोर अश्लीलता के साथ निकृष्टता भी है तथापि उसकी सरसता से अस्वीकार नहीं किया जा सकता । प्रस्तुत प्रश्न में सरसता का परिचय प्राप्त करना मात्र ही हमारा लक्ष्य भी है । वर्णन लौकिक पक्ष में ही अधिक घटता है, इसी नाते आलोचक को यहाँ बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है कि वह किस पक्ष का समर्थन करे । अन्ततः आचार्य शुक्ल के शब्दों में यह कहना संगत होगा कि इस विलासिता के बीच-बीच में भी प्रेम का भावात्मक-स्वरूप प्रस्फुटित हुआ है । राजा जिससे मतवाला हो रहा है वह प्रेम की सुरा है जिसका वर्णन सूफी शायरों ने बहुत किया है—

“मुनु धनि ! प्रेम-सुरा के पिए । मरन-जियन उर रहै न हिए ॥

जेंह मव तहाँ कहाँ संसारा । कं सो खमिरिहा कं मतवारा ॥

जाकहँ होई बार एक लाहा । रहै न ओहि बिनु ओही चाहा ॥

अरथ वरब सब देह बहाई । कह सब जाहु. न लाउ पियाई ॥”

ग्रन्थ में लेखक ने इन मधुर शब्दों के साथ इस मिलन प्रसंग को समाप्त किया

है—

“आजु मरम में पावा सोई । जस पियार पिउ और न कोई ॥”

कवि का यह वर्णन आध्यात्मिकता के रंग से रंगा होते हुए भी काफी सरस और सजीव है जो किसी भी सहृदय को अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता रखता है ।

३. षट्ऋतु—इसी प्रकार कवि ने षट्ऋतु वर्णन खण्ड में भी बड़े ही सरस और हृदयग्राही स्थल प्रस्तुत किए हैं। एक उदाहरण देखिए—

“पद्मावति चाहति ऋतु पाई । गगन सोहावन भूमि सोहाई ॥

चमक बीजू, बरस जग सोना । दाबुर मोर सबब सुठि-लोना ॥

रंग राती पीतम सँग जागी । गरजे चमक चौंकि गर लागी ॥

सीतल बुँद अँच चौपारा । हरियर सब देखिअ ससारा ॥

राजा रत्नसेन के साथ संयोग होने पर पद्मावती को पावस की शोभा का कैसा सुखद अनुभव हुआ है। ऐसे ही अन्य ऋतुओं का भी वर्णन बड़ा ही हृदय-ग्राही है।

निष्कर्ष

अन्त में हम निष्कर्ष रूप में यह कहेंगे कि जायसी के पद्मावत के संयोग शृंगार की सजीवता में किसी भी सहृदय को विभोर कर देने की पर्याप्त क्षमता है। यद्यपि जायसी मूलतः वियोग के कवि हैं, तथापि संयोग-वर्णन में भी जीवन डाल देने की कला वे खूब जानते हैं। यह दूसरी बात है कि उन्होंने अपने संयोग-वर्णनों को अपेक्षित निखार नहीं दिया है, फिर भी उनकी सरसता और सजीवता तो स्तुत्य है ही। पता नहीं संयोग की इस व्यापक भाव-भूमि में उतरने का कवि ने उतना विस्तृत विधान क्यों नहीं किया।

यदि वे फारसी शैली से बुरी तरह प्रभावित न होते और आध्यात्मिकता की झलक बरबस स्थान-स्थान पर देने का दुराग्रह न करते तो उनका शृंगार-वर्णन (संयोग-शृंगार) अधिक स्वाभाविक और उत्कृष्ट रूप में निखरा होता। फिर भी जायसी के संयोग-वर्णन की रमणीयता और सजीवता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि अन्य सूफी कवियों की भाँति जायसी को भी रस-शास्त्र का ज्ञान नहीं था और इसी कारण वे उसका साँगोपाँग विवेचन नहीं कर सके तथापि उन्होंने ऐसे स्थलों पर मनोहर वातावरण का सृजन किया है जो लौकिक सौन्दर्य के साथ-साथ पारलौकिक सौन्दर्य का भी भान कराता है। भौतिक प्रणय के द्वारा उन्होंने लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि की और अन्त तक उसमें लगे रहे, यह सभी स्वीकार करते हैं।

✓ पद्मावत में विरह-वर्णन

शृंगार रस के दो भेद होते हैं—संयोग-शृंगार और वियोग-शृंगार। इन्हें क्रमशः सम्भोग और विप्रलम्भ शृंगार भी कहते हैं। संयोग में प्रेमी और प्रेमिकाएँ साथ-साथ मिलन-सुख का उपभोग करते हैं, इसीलिए उनका प्रेम एक सीमित परिधि में केन्द्रित हो जाता है। तब उसमें न कोई आवेश रहता है और न उद्दाम। फलतः प्रेम का विस्तार और प्रसार रुक जाता है। वियोग में प्रेमी और प्रेमिका बिछुड़ जाते हैं। इस बिछुड़न से उनकी भावनाओं को ठेस लगती है, उनके विचार में तीव्रता आती है और प्रेम का क्षेत्र असीमित हो जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वियोगी व्यष्टि की परिसीमा को लाँघकर समष्टि के असीम प्रदेश में प्रविष्ट हो जाता है। उसका निर्जीव प्रेम नवीन प्राणवत्ता लेकर मचल उठता है। इसीलिए आचार्यों ने संयोग-पक्ष की अपेक्षा वियोग-पक्ष को अधिक महत्ता दी है।

वियोग-शृंगार चार प्रकार का होता है—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। किसी के केवल गुण-श्रवण से जो विरहानुभूति होती है, वह पूर्वराग कहलाता है। परस्पर रूठ जाने को मान कहते हैं। आचार्यों ने इस भेद को स्वीकार करते हुए भी उसे अधिक महत्त्व नहीं दिया है। इसका कारण यह है कि मान में, रूठ जाने पर भी, प्रेमी-प्रेमिका एक-दूसरे के पास ही रहते हैं, अतः अनुभूतियों में वह तीव्रता नहीं आ पाती जो बिछुड़ने पर होती है। करुण में कारुणिक भावना का आधिपत्य होने से वह निर्वेद की स्थिति में पहुँच जाता है। प्रवास का कारण प्रियतम अथवा प्रियतमा का प्रवासी होना है, परदेश चले जाना है। यही प्रकार सर्वश्रेष्ठ माना गया है और इसी का सर्वाधिक वर्णन हुआ है। नागमती का विरह भी प्रवासजन्य है।

जायसी का भावुक हृदय इस भारतीय हिन्दू-रमणी के पवित्र आसुओं में डूब कर अश्विनी सुध-बुध खो बैठा है। विरह-विदग्ध हृदय की संवेदनशीलता के इस चरम उत्कर्ष को देखकर ऐसा लगता है जैसे प्रेम के चतुर चित्तेरे कवि ने नागमती को स्वयं में साकार कर लिया हो और उसके हृदय की व्यथा के रूप में अपने ही हृदय की व्यथा को उँडेल दिया हो। परम प्रियतम के चिरंतन-वियोगी सूफी-भक्त-कवि का हृदय, अश्रु का जलजात बन गया है। नागमती के विरह-वर्णन में नागमती नहीं व्यथा स्वयं बोलती है।

निर्मोही प्रियतम के प्रवास से ही इस विरहिणी की विरह-कथा का प्रारम्भ

ता है। उसके एकनिष्ठ प्रेम और अपूर्व सौन्दर्य की अवहेलना करके किसी अज्ञात पति के प्रणय में उन्मत्त होकर उसका पति चला गया। उसके व्यवहार, विश्वास, जा-अर्चना तथा धर्म और सेवा को पति की निर्मम अवहेलना से ठेस लगी। वह चलिता हो गई। स्त्री का ऐसा अपमान, जिसमें उसका रूप कुरूप घोषित कर दिया गया, उसकी यौवन-अभिलाषा को दुत्कार दिया जाय, विश्वास के स्वाभिमान को करा दिया जाय—और वह भी अपने ही पति द्वारा—नागमती को मिला था।

इसी दशा में कठोराघात से व्याकुल हो मानिनी नारी के लिए एक ही मार्ग होता है कि या तो वह जीवन से वैराग्य लेकर जगत्-प्रभु के चरणों में अपने को समर्पित कर दे अथवा सदैव के लिए इस जीवन-लीला का विसर्जन कर दे (अपमान और तिरस्कार की अग्नि में तिल-तिल जलना किसी भी रूप और प्रेम गविता को अन्य नहीं, किन्तु प्रणय-सागर के कुशल नाविक जायसी ने अपनी नागमती को इनमें। किसी भी पंथ की पंथिनी नहीं बनाया, अपितु उसके नारीत्व और सतीत्व को एक दिव्य आभा प्रदान की, महाशक्ति दी, उसकी कठिन परीक्षा ली और अन्त में उसके कुन्दन से खरे रमणीत्व को प्रकट कर सहृदय पाठकों को चकित कर दिया।)

नागमती का पति-प्रेम विरहावस्था में प्रगाढ़तर हो चला। संयोगकालीन सुख केलियों की भांति यह विरह भी उसके पति ने ही दिया था, इसलिए उसने उसका हँसकर अभिनन्दन किया और इस काल में भी पूर्ण मनोयोग से पति की माराधना की। वह पथ पर उसके प्रत्यागमन की आशा से पथ पर पलकें बिछाये रही, केन्तु जब पूरा वर्ष बीत गया और निर्मोही न लौटा, तो पतिपरायणा का हृदय डोल गया, विकलता रोम-रोम से विद्रोह करने लगी। मन को शंका हो चली कि यह प्रवास कहीं आजीवन प्रवास तो नहीं बन जायगा। वेदना की ज्वाला में हृदय-तन्तु टूट-टूट कर भस्महोने लगे और सुधि की आधी प्रवल वेग से चलने लगी—

“नागमती चित्रउर-पथ हेरा । पिउ जो गए पुनि कीन्ह न फेरा ॥

नागर काहु नारि बस पैरा । तेइ मोर पिउ मोसों हरा ॥

सुआ काल होइ लेइगा पीऊ । पिउ नहि जात, जात बरु जीऊ ॥

सारस जोरो कौन हरि, मारि बिआधा लीन्ह ?

भुरि-भुरि पीजर हों भई, बिरह-काल मोहि दीन्ह ॥”

✓ बारहमासा

विरह-व्यथिता राजमहिषी को राजधानी की वर विलास-सज्जा के प्रति रंच-मात्र भी आकर्षण न रह गया। समस्त संसार उसे भयावह प्रतीत होने लगा। प्रकृति की सौन्दर्य-स्तिग्ध कमनीयता, मलयज मोहकता और वासन्ती कौमार्य आदि सभी कष्टदायक बन गये और जब प्रकृति षट्कृतु बार-बार अपना परिधान बदलती हुई सौन्दर्य-सुषमा से होड़ करने लगी तो नागमती की वेदना त्रिजटा के समान विषोल बेह हो गई—

(“पिउ बियोग अस बाउर जीऊ । पपिहा नित बोले पिऊ-पिऊ ॥
 अधिक काम बाधे सो रामा । हरि लेइ सुआ गएउ पिउ नामा ॥
 बिरह-बन तन लाग न डोली । रकत पसीज भोज गई चोली ॥
 सुखा हिया हार भा भारी । हरे हरे प्रान तजहि सब नारी ॥
 खन एक आव पेट महँ साँसा । खनहि जाइ जीउ होइ निरासा ॥
 पवन डोलावहि सींचहि चोला । पहर एक समुझहि मुख बोला ॥
 प्रान पयान होत को राखा । को सुनाव पीतम कै भाखा ॥
 आहि जो मारें बिरह कै, आगि उठे तेहि लागि ।
 हंस जो रहा शरीर महँ, पाँख जरा गा भागि ॥”)

आकाश में पावस के मेघ चढ़ आए; पृथ्वी की तप्त छाती शीतल हो चली ।
 झूलसी हुई प्रकृति हरी-भरी हो गई । वृक्ष, लता और पुष्प सबकी काया मिलन-
 आसुओं से धुल-धुल एक अपूर्व मौन्दर्य बिखेरने लगी । जड़-चेतन उल्लसित हो उठे;
 पर हाय रे भाग्य ! नागमती का प्रियतम नहीं लौटा । जग को सुखदायक लगने वाले
 पावस-कण उसके लिए वाण बन गए—

“खडग बीजु चमकें चहुँ ओरा । बुन्द-बान बरसहि घनघोरा ॥”

विकल नागमती कातर स्वरों में पति को पुकार-पुकार उससे विनय
 करने लगी—

“कान्त उबार, मदन हों घेरी ।”

आवण में मेघों ने मरुथल में भी भीलें बना दीं । उन्माद के साथ वर्षा का
 प्रादुर्भाव हुआ । हृदय में हिलोरें आईं, पवन के साथ झूलते हुए बादलों को देखकर
 सखियों ने हिंडोला सजा दिया, किन्तु नागमती का हृदय हिंडोले के समान झूलकर
 भी विरह के हाथ में था—

“हिय हिंडोल अस डोलै मोरा । बिरह भुलाइ बेइ भकभोरा ॥”

वर्षा के जल ने जल-थल एक कर दिया । वेदना के आँसू भी उतना ही
 विस्तृत और विशाल समुद्र भर रहे थे । दोनों को पार करने के लिए पंख अथवा परों
 की आवश्यकता थी । नागमती ने कहा—

“परवत समुद अगम बिच, बीहड़ घन बन डाल ।

किमि कै भेटौं कंत तुम्ह, ना मोहि पाँव न पाँख ॥”

रत्नसेन वहाँ अपने पैरों से गया और हीरामन पंखों से—नागमती स्त्री है,
 उसके पास न तो पाँव है और न पंख । वह प्रियतम तक कैसे पहुँच सकती है ?

वर्षा समाप्त हो गई और निरञ्ज नीलाकाश में शरद का चन्द्रमा शुभ्र क्रीड़ा
 करने लगा । हंस, सारस और खंजन लौट आए किन्तु कन्त न फिरे । विरह के
 कारण नागमती को चन्द्रमा में अजस्र दाह, राहू का-सा दर्शन और कृष्णपक्ष का सा
 अंधकार दिखाई देने लगा । प्रिय के बिना जाने वाली दीपावली भी उसके मन में

आलोक न भर सकी और उसका प्रांगण दीपशिखा के बिना ही सूना रह गया । रत्नसेन के अभाव का कष्ट था । और 'सवति दुख दूजा' के कारण वह और व्याकुल थी । इसलिए अपने दुःख की अवधि उसे दीर्घतम प्रतीत होती थी । यदि सवति न होती तो रत्नसेन को नागमती की स्मृति स्वभावतः आती, किन्तु स्त्री का प्रेम उसे पद्मावती से प्राप्त हो रहा था । इसलिए अपनी स्मृति जागृत करने के लिए भोरे और काग से उसने अपना संदेश इस प्रकार कहलाया —

“प्रिय सों कहेउ संदेसड़ा, हे भोरा हे काग ।
सो धनि विरहै जरि मुई, तेहि क धुआ हम लाग ॥”

फागुनी उल्लास ने भू-नभ सबमे नवजीवन भर दिया । चतुर्दिक केलि-क्रीड़ाएं होने लगी, पर नागमती की दशा और ही थी—

“तन जस पियर पात भा मोरा । तेहि पर विरह वेइ भकभोरा ॥
तरिवर भरहि-भरहि बन ढाखा । भइ ओनत फूल फरि साखा ॥
करहि बनस्पति हिये हुलास । मो कहै भा जग दून उदास ॥
फागु करहि सब चौचरि चोरी । मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी ॥
राति बिबस बस यह जिउ मोरे । लगौ निहोर कंत अब तोरे ॥

यह तन जारौ छार कं, कहौ कि पवन उड़ाव ।

सकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जह पांव ॥”

कितनी गहरी व्यथा और पति-प्रेम की एकनिष्ठा है । इसी प्रकार बारहों मास रानी के दुःख की उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहे । धीरे-धीरे वह दशा भी आ पहुँची जब वह राजमहल छोड़कर वन-उपवन में भटकने लगी । पति-वियोग में बावली रानी नागमती को अपने रानीपन की सुधि न रही और वह सामान्य विरहिणी नारी की भाँति बिलख-बिलखकर अपना तन-मन भस्म करने लगी । जगत-माता सीता के खो जाने पर जिस प्रकार भगवान राम एक सामान्य मानव की भाँति बावले होकर बन के खग-मृग और मधुकर श्रेणी से उनका पता पूछते फिरे थे (हे खग, मृग, हे मधुकरश्रेणी तुम देखी सीता मृगनयनी ?) उसी प्रकार नागमती पति-वियोग में बावली होकर बन के सभी पशु-पक्षियों और जीव-जन्तुओं से अपना विरह-निवेदन करती हुई फिरने लगी । सारी सृष्टि आंशुओं से भीग गई और हर एक पशु-पक्षी का हृदय उसकी व्यथा से द्रवित हो उठा । वियोगाग्नि की भीषणता का अन्त न था—

“जेहि पंखी के निअर होइ, कहै विरह कं बात ।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात ॥”

संदेश

आकाश को कैपा देने वाले उसके विलाप से घोंसलों में बैठे हुए पक्षियों की नींद हराम हो गई—

“फिर-फिर रोव, कोइ नहि डोला । आधी रात बिहंगम बोला ।

तू फिर-फिर बाहं पाँखी । केहि दुख रंनि न लावसि पाँखी ॥”

दुर्भाग्य की निविड-निशा में, पक्षी द्वारा दया और सहानुभूति के इन शब्दों को सुनकर नागमती ने अपनत्व के भाव से कहा.—

चारिउ चक्र उजार भए, कोइ न संदेसा देक ।

कहाँ विरह-दुख आपन, बैठि सुनहु बंड एक ॥”

पक्षी सन्देश ले जाने को तैयार हो जाता है । अब मान, गर्व आदि से रहित सुख-भोग की लालसा से अलग और नम्र, शीतल तथा विशुद्ध प्रेम के प्रतिबिम्ब से आलोकित पति-परायणा का सन्देश सुनिए:—

“पदमावति सौं कहेउ बिहंगम । कंत लोभाइ रहैं करि संगम ।

तोहि चैन सुख मिलै सरीरा । मों कहँ हिए दुब दुख-पूरा ॥

हमहुँ बियाही संग ओहि पीऊ । आपुहि पाइ जानु पर-जीऊ ।

मोंहि भोग सो काज न बारी । सोंहि बिस्टि कं चाहनहारी ॥

एक स्त्री के हृदय की व्यथा को दूसरी स्त्री ही समझ सकती है इसीलिए नागमती ने पद्मावती के पास सन्देश भेजा । रत्नसेन को अपना सन्देश तथा दुःख का एक शब्द भी नहीं भेजा । हाँ, रत्नसेन की माता की व्यथा अवश्य उस पक्षी से कही । यहाँ हम देखते हैं कि उसके दृढ़ प्रेम और गहरी आस्था के साथ-साथ स्त्रीजन्य मान का अभिमान भी कवि ने सुरक्षित रक्खा है । दग्ध होकर भी नागमती प्रिय को अपनी अवस्था से दुःखी नहीं करना चाहती । पति की सुख-शान्ति की भावना के लिए एक भारतीय आदर्श हिन्दू रमणी की सी उत्तम पवित्रता है ।

नागमती का विरह भारतीय नारी का विरह है । इसीलिए उसमें अपेक्षित गाम्भीर्य है । जहाँ कही कवि पर फारसी प्रभाव अधिक आ पड़ा है, वहाँ कुछ बीभत्सता अवश्य आ गयी है, पर उमसे नागमती के मूल विरह-प्रसंग पर कोई आघात नहीं पहुँचता । नागमती की व्यथा का जो विशद और सजीव चित्र कवि ने उपस्थित किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । नारी की संवेदना अपनी सीमा छू रही है और हृदय के वेग की व्यंजना उत्कर्ष पर है ।

प्रकृति के परिवर्तन में मानवीय भावनाओं का आरोप कर कवि ने उसके प्रति अपनी सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि का परिचय दिया है । बारहमासे के वर्णन में उसकी इस विलक्षण प्रतिभा का स्पष्ट बोध होता है । उसमें विरह-ताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यन्त विशद व्यंजना को प्रकट करने में कवि को अधिकाधिक सफलता मिली है । विरह-वर्णन में कवि का सदैव यह प्रयत्न रहा है कि विरह ताप की मात्रा को न प्रकट कर वह संवेदना ही अधिक प्रकट करे । कवि के इस प्रयत्न ने ही उसके वर्णन को अतिशयोक्ति और उदात्मकता के भारी अपराध से कुछ मुक्ति दिला दी है ।

नागमती के विरह-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता नागमती का अपने रानीपन को भूलकर सामान्य नारी की भाँति विरह-व्यथित हो अपने हृदयोद्गारों को प्रकट करना है । रानी के इस स्वरूप को प्रस्तुत करने में कवि की शक्ति अपनी चरम

सीमा का स्पर्श करती है और काव्य-कला में एक नवीन आकर्षण आ जाता है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि 'जायसी ने स्त्री जाति की या कम-से-कम हिन्दू गृहिणी मात्र की सामान्य स्थिति के भीतर विप्रलम्भ शृंगार के अत्यन्त समृद्ध रूप का विकास दिखाया है।' नागमती के विरह-व्यथित वाक्य प्रत्येक पाठक के हृदय को बेध जाते हैं। उसकी व्यथा के प्रति मानव ही नहीं, सभी पशु-पक्षियों तथा जीव-जन्तुओं के हृदय में भी कण्ठा का अपार समुद्र उमड़ आता है। सारी सृष्टि ही उसके आसुओं से भीग उठती है। यह सामान्य लेखक के वश की बात नहीं। जायसी जैसे भावुक और महाकवि की सशक्त लेखनी से ही ऐसे स्थल प्रादुर्भूत हो सके हैं।

यही सब विशेषताएँ हैं जिनके कारण नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य में अद्वितीय बन गया है। पद्मावत का तो वह प्राण-बिन्दु ही है। यदि उन्होंने नागमती के इस अद्वितीय विरह-वर्णन का सृजन न किया होता तो जायसी के हृदय की कोमलता और चरम संवेदन शक्ति का सच्चा परिचय हमें नहीं मिल पाता।

विरह तत्व की प्रधानता

चूँकि सारी सूफी साधना उस परम प्रियतम के विरह की साधना है, इसलिए सम्पूर्ण सूफी साहित्य में उसी का स्वर प्रधान है। पद्मावत-काव्य का सिंहावलोकन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूरे काव्य में विरह-तत्व ही प्रमुख होकर बोल रहा है। रत्नसेन रूपी जीवात्मा पद्मावती रूपी ब्रह्म अथवा बुद्धि के विरह में तड़पती हुई चित्रित की गई है। गुरु रूपी सुआ के द्वारा उसके विरह यज्ञ में ज्ञान की आहुति पड़ती है जिससे तड़पन-शिखा प्रज्वलित होती है। पद्मावती को प्राप्त कर लेने के उपरांत रत्नसेन उसके संयोग का पूर्ण सुखोपभोग भी नहीं कर पाता कि तब तक कवि नागमती के अगाध विरह-सागर की गाथा छेड़ बैठता है। फलतः विवश होकर रत्नसेन को पद्मावती सहित सचित्त मस्तिष्क से चित्तौड़ लौटना पड़ता है। सिंहलगढ़ से चित्तौड़ लौटते समय मार्ग में रत्नसेन का जहाज राक्षस द्वारा तूफान में डाल दिया जाता है जहाँ पद्मावती और रत्नसेन का बिछोह हो जाता है। जहाज नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। बड़ी कठिनाइयों के उपरांत समुद्र की कन्या लक्ष्मी की कथा के साथ कवि दोनों का पुनर्मिलन कराता है। समुद्र से पाँच रत्न प्राप्त कर रत्नसेन और पद्मावती चित्तौड़ पहुँचते हैं। कुछ दिनों के उपरान्त ही राघवचेतन का निकाला होता है, वह अलाउद्दीन के दरबार में जाकर पद्मावती के अपूर्व सौन्दर्य का बखान करता है। रूप का लोभी अलाउद्दीन उसके उकसाने से चित्तौड़ पर आक्रमण कर देता है काफी लम्बा संघर्ष चलता है रत्नसेन बन्दी होता है, पद्मावती तथा गोरा बादल के बुद्धि-कौशल से वह पुनः छूटता है। अन्त में देवपाल से युद्ध करते हुए उसकी मृत्यु होती है और दोनों रानियाँ उसके शव के साथ सती हो जाती हैं।

१. जायसी पद्मावती

इतना स्पष्ट हो जाने के उपरांत अब हमें यह देखना है कि पद्मावत के विरही स्वरूप (विरह-तत्त्व) को उसकी आध्यात्मिकता ने कहीं विकृत तो नहीं किया है।

इस दृष्टि से पद्मावत पर जब विचार करते हैं तो हमें यह कहना पड़ता है कि पद्मावत की आध्यात्मिकता ने उसके विरही स्वरूप (अर्थात् ब्रुद्ध विरह-काव्य-तत्त्व) को निश्चय ही विकृत कर दिया है। यदि कवि ने पद्मावत को अपनी आध्यात्मिकता के प्रचार का माध्यम न बनाया होता तो काव्य का स्वरूप और भी निखरा होता, सरसता बढ़ी होती और काव्य-सिद्धांतों की अधिकाधिक रक्षा हुई होती, परन्तु दुःख है कि कवि ने वैसा नहीं किया। परिणामस्वरूप काव्य के प्रवाह में बड़ा विघ्न पड़ता है, उसकी प्रगति और विकास में व्याघात पहुँचा है। कथा बोझिल सी लगती है, अभिव्यक्ति में शैथिल्य आ गया है और साथ ही साथ स्वाभाविकता को भी भारी चोट पहुँची है। अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ काव्य के साथ कवि की आध्यात्मिकता का मेल नहीं हो सका है जिससे कथा-प्रवाह में जो बाधा पड़ी है, वह तो पड़ी ही है साथ ही काव्य सौन्दर्य में पर्याप्त विकृति आ गई है। वहाँ कला का रूप नहीं निखर सका है। पाठक ऐसे स्थलों पर एक विचित्र खीझ और नीरसता का अनुभव करता है। योग और रसायन के वर्णनों में तो यह स्थिति प्रायः सभी स्थानों पर आई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की आध्यात्मिकता के दुराग्रह से उसके कवित्व को भारी क्षति पहुँची है। घर्मान्धता ने भले ही कवि को अपनी इस कमजोरी की ओर ध्यान न देने दिया हो, परन्तु सामान्य पाठक तथा जिज्ञासुओं को यह कमी सदैव खटकती है।

इस प्रकार सम्पूर्ण कथा को पढ़ने के उपरान्त हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं:—

१—पद्मावती रूपी ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए सभी बेचैन हैं। समस्त जड़चेतन की विरह-व्यथा में रत्नसेन के वियोग को कवि ने प्रखरता प्रदाम की है। रत्नसेन और पद्मावती ही इस विस्तृत विरह कथा के केन्द्र बिन्दु हैं।

२—नागमती के विरह के आसुओं से पद्मावत की आत्मा भीगी हुई है।

३—भारतीय सांस्कृतिक बिन्दु, जो नागमती के माध्यम से काव्य में चित्रित हुआ है, विरह की स्याही से ही लिखा गया है।

४—प्रकृति का विरह-व्यथित रूप ही काव्य में प्रमुख रूप से चित्रित हुआ है। संयोगकालीन प्रकृति उतने व्यापक, विशद तथा सजीव रूप से चित्रित नहीं हुई है जितने विशद रूप में विरहकालीन प्रकृति।

५—काव्य के अत्यन्त मार्मिक और अधिकाधिक संवेदनशील स्थल विरह के प्रसंग ही हैं जिनके द्वारा काव्य में प्राण-प्रतिष्ठा हुई है।

✓ ६—पद्मावत के शब्द-शब्द, प्रत्येक घटना और वर्णन में जायसी का विरहा-कुल हृदय डोलता नजर आता है। यही कारण है कि संयोग के स्थल बहुत कम हैं और जो हैं भी उनमें कवि का हृदय पूर्णतः नहीं रम सका है।

७—विरह के वर्णन जायसी ने बड़ी ही सावधानी, लगन और एकनिष्ठा के साथ किए हैं। ✓

८—पद्मावत की मूल कथा का आरम्भ विरह से होता है और उत्कर्ष तथा अन्त भी विरह में ही हुआ है। ✓

९—पद्मावत में वियोग शृंगार की प्रधानता है और इसी का काव्य में पूर्ण परिपाक भी हुआ है। काव्य का अंगी रस वियोग शृंगार (विरह) ही कहा जायगा। ✓

१०—सम्पूर्ण काव्य को पढ़ने के बाद ऐसी शान्ति का अनुभव होता है जो दर्द, तड़प, टीस और आकुलता आदि उपकरणों से निमित्त हुई है। पद्मावत काव्य विरह-काव्य है। ✓

अन्त में हम यह कहेंगे कि पद्मावत एक विरह काव्य है, परन्तु उसके प्रणेता के आध्यात्मिक दुराग्रह ने काव्य मौन्दर्य को भारी क्षति पहुँचाई है, उसका वास्तविक स्वरूप विकृत हो गया है।



पद्मावत में प्रतिष्ठित प्रेम-पद्धति

जायसी ने अपने पद्मावत के अन्त में लिखा है—

“मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा । कहा कि हम्ह कछु और न सूझा ॥
चौबह भुवन जे तर उपराहीं । ते सब मानुष के घट माहीं ॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा । हिय सिंहल, बुधि पदमिनि चीन्हा ॥
गुरु सुआ जेहि पन्थ देखावा । बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनियाँ-धधा । बाँचा सोई न एहि चित बँधा ॥
राघवदूत सोई सैतानू । माया अलाउदीं सुलतानू ॥
प्रेमकथा एहि भाँति बिचारहु । बूझि लेहु जौ बूझै पारहु ॥
तुरकी, अरबी, हिंदुई, भाषा जेती आहि ।
जेहि मँह मारग प्रेम कर, सबे सराहैं ताहि ॥”

अर्थात् रत्नसेन और पद्मावती की प्रणय-कथा साधारण मानवीय-प्रेम कथा न हाकर आत्मा और परमात्मा के प्रणय की कथा है। जीवात्मा रूप रत्नसेन, ब्रह्म-रूप पद्मावती को प्राप्त करने के लिए जिन-जिन कष्टों का सामना करता है, वे सब एक सूफी साधक के मार्ग की कठिनाइयाँ हैं। सिद्धि को प्राप्त करने के हेतु इन सभी विषम-स्थलों से प्रत्येक सूफी साधक को गुजरना पड़ता है। सूफी-साधना में जगत् और प्रकृति का बहिष्कार नहीं हुआ है, वरन् उसके कण-कण में ब्रह्म के अपरिमित सौन्दर्य का दर्शन किया गया है। जीवन और जगत् का सौन्दर्य उस परब्रह्म का सौन्दर्य है। तात्पर्य यह है कि लौकिक सौन्दर्य के माध्यम से ही पारलौकिक सौन्दर्य का उद्घाटन समस्त सूफी साधकों और कवियों का अभिप्रेत रहा है। जायसी उन सभी कलाकारों के सिरमौर है। अतः उनका पद्मावत इस तथ्य का जीता-जागला प्रमाण है।

ग्रंथ-नायिका पद्मावती के अपरिमित सौन्दर्य में जायसी ने उस परम प्रियतम के सौन्दर्य के दर्शन किए हैं और उसकी विशालता, व्यापकता तथा गम्भीरता का बड़ा ही चमत्कारिक और हृदयस्पर्शी उद्घाटन किया है। पद्मावत का चरम सौन्दर्य वर्ण-नात्मक और भावनात्मक दोनों रूपों में चित्रित हुआ है। वैसे तो सम्पूर्ण पद्मावत में उसकी छटा विद्यमान है किन्तु दो स्थल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

१—चित्तौड़-दरबार में तोते द्वारा रत्नसेन के सम्मुख पद्मावती के रूप-

सौन्दर्य (नखशिख-शिखनख) का प्रभावशाली वर्णन, और—

२—दिल्ली-दरबार में राघवचेतन द्वारा अलाउद्दीन के सम्मुख उसके (पद्मावती के) रूप-सौन्दर्य का मनोमुग्धकारी वर्णन ।

वर्णनात्मक

ग्रंथ का यह अपूर्व-रूप-सौन्दर्य-वर्णन ही प्रेम-कथा का मूलाधार है । तोते द्वारा पद्मावती के मादक-रूप का वर्णन सुनकर ही रत्नसेन उसकी प्राप्ति के लिए लालायित होता है । उसकी यह लालसा धीरे-धीरे पूर्व राग—और फिर परिपक्व प्रेम में परिणत हो जाती है । जायसी ने भी अन्य सूफी कवियों की भाँति इस रूप-सौन्दर्य को अपनी प्रेम-कथा का आधार बनाया, लौकिक रूप-सौन्दर्य-वर्णन के माध्यम से उस पारलौकिक-सौन्दर्य अथवा प्रेम की मनहर भाँकी का रसास्वादन किया (अमर प्रेम के सन्देश-वाहक जायसी की कुशल लेखनी से रूप और प्रेम का जो चित्र उतरा है वह सर्वथा श्लाघनीय है ।)

पद्मावती सखियों सहित मानसरोवर पर स्नान करने पहुँची । वहाँ वह उनके साथ केलि करने लगी, तब सखियाँ उससे नैहर-मुख एवं प्रेम का महत्व बतलाती हुई कहती हैं—

“ऐ रानी मन देखु बिचारी । एहि नैहर रहना दिन चारी ॥

जौ लहि अहै पिता कर राजू । खेलि लेहु जो खेलहु आजू ॥

पुनि सासुर हम गौनब काली । कित हम, कित यह सरवर-पाली ॥

कित आवन पुनि अपने हाथा । कित मिलि कै खेलब एक साथ ॥

सासु ननैब बोलिन्हि जिउ लेहीं । दासुन ससुर न आवै देहीं ॥

पिउ पियार सब ऊपर, पुनि सो करै बहूँकाह ।

बहुँ सुख राखै की दुख, बहुँ कस जनम निबाह ॥”

इस छन्द में जायसी आध्यात्मिक अर्थ की ओर संकेत करते हैं । नैहर से उनका तात्पर्य इस संसार से है । यहाँ संसार रूपी मानसरोवर के पास जीव को अनेक प्रकार के आमोद और प्रमोद के साधन हैं, अन्त में उस पार अवश्य जाना है जहाँ प्रियतम परमेश्वर है । उस लोक में पता नहीं कैसी बीतेगी । सासु ननद के कटु वचन से तात्पर्य यह है कि वहाँ कर्मों की गणना होगी और जीवन के गुणों-अवगुणों की ही आलोचना होगी । मुसलमानों के मत से पुनर्जन्म नहीं होता, इसी से जायसी लिखते हैं—

“दासुन-ससुर न आवै देहीं ।”

अन्तिम दोहे में अपने प्रेम-पथ की भूलक भी उन्होंने एक ही शब्द “पिउ-पियार” में दे दी है । सूफी-प्रेम में सुख और आनन्द की उतनी कल्पना नहीं है, जितनी पीड़ा की । इसलिए वे कहते हैं सबसे अधिक तो प्रियतम का प्यार है जिसकी उलझनें और आशंकाएँ अनुमानित नहीं हो सकतीं । कबीर ने भी इन लोक

को नैहर और परलोक को ससुराल कहा है ।^१

“खेलि लेइ नैहर बिन चारी ।

पहिली पठौनी तीन जन आये, नाऊ, ब्राह्मण बारी ॥

दुसरी पठौनी पिय आपुहि आये, डोली, बांस, कहारी ॥

धरि बहियाँ डुलियाँ बैठावै, कोउ न लगत मोहारी ॥

अब करि जाना बहुरि न अबना, इहै भेट अंकवारी ॥

—कबीर

तालाब-तट पर खड़ी पद्मावती का सौन्दर्य देखिए—

“सरवर तीर पद्मिनी आई । खोंपा छोरि केस मोकराई ॥

ससि मुख अँग मलयगिरि बासा । नागिनि भांप लीन्ह चहुँपासा^२ ॥

ओनई छटा परी जग छाँहों । ससि कै सरन लीन्ह जनु राहां ॥

छपिगं दिनहि भानु कै दसा । लेइ निसि नखत चांद परगसा ॥

भूलि चकोर दीठि मुख लावा । मेघ घटा मँह चँद देखावा ॥

दसन दामिनी कोकिल भाखी । भौहँ धनुष गगन लेइ राखी ॥

नैन खँजन दुइ केलि करेही । कुच-नारग मधुकर रस लेंही ॥

सरवर रूप विमोहा, हिए हिलोरहि, लेइ ।

पाँव छुवै मकु पावों, एहि मिस लहरहि देइ ॥

सरोवर का रूप-विमुग्ध होकर हिय में हिलोरे लेना देख सूर के वसुदेव द्वारा कृष्ण को ले जाते समय यमुना का उन पावन-चरणों के स्पर्श के लिए तरंगकुल होना याद आ जाता है ।

सखियों सहित स्नान करते समय पद्मावती का रूप-वर्णन आलीलिक बना दिया है—

“नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर ।

हँसत जो देखा हस भा, दसन-जोति नग-हीर ॥”

तोते द्वारा पद्मावती के रूप वर्णन (नख-शिख) की एक भाँकी देखिए—

“भँवर केस वह मालति रानी । विसहर लुरहि लेहि अरधानी ॥

बेनी छोरि भारु जौ बारा । सरग पतार होइ अंधियारा ॥

कोंवल कुटिल केस नग कारे । लहरन्ह भरे भुअँग विसारे ॥

बेधे जानि मलयगिरि वासा । सीस चढ़े लोटहि चहुँपासा ॥

घरवारि अलकै विष भरी । सिकरीं पेस चहँ गिर परी ॥

१. जायसी ग्रन्थावली सटीक—डा० मनमोहन गौतम

२. ‘ससि मुख अंग मलयगिरी रानी । नागन्ह फाँपि लीन्ह अरधानी ॥’

पर पाठ भी मिलता है ।

अस फँदवारे केस बँ, परा सीस गिउ फाँव ॥

अस्तो कुरी नाग सब, अरुभ केस कँ बांध ॥”

×

×

×

“बरनी का बरनौ इमि बनी । साधे बान जानु दुइ अनी ॥

उन बानन्ह अस को जो न मारा ? बेधि रहा सगरौ संसारा ॥

गगन नखत जो जाँहि न गने । वं सब बान ओहि के हने ॥

धरती बान बेधि सब राखी । साखी ठाढ़ देहि सब साखी ॥

रोंव रोंव मानुस तन ठाढ़े । सूतहि सूत बेध अस गाढ़े ॥

वरुनि-बान अस ओपँह, वेधे रन-बन-ढाँख ।

सौजहि तन सब रोवाँ, पखिहि तन सब पाँख ॥”

×

×

×

“जेहि दिन दसन जोति निरमई । बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई ॥

रवि ससि नखत विपँहि ओहि जोती । रतन पदारथ मानिक मोती ॥

जँह जँह विहँसि सुभारहि हँसी । तँह-तँह छिटकि जोति परगसी ॥

बामिनि दमक न सरवर पूजा । पुनि वह जोति और को दूजा ॥

विहँसत हसत दसन तस चमके, पाहन उठे भरक्कि ।

बारिबं सरि जो न कँ सका, फाटेउ हिया दरक्कि ॥”

ऐसे विशद सौन्दर्य के उपरान्त फिर क्या होता है कि—

“मुनतहि राजा गा मुरभाई । जानहु लहर मुरुज कँ आई ॥

पेम-घाव-दुख जान न कोई । जेहि लागे जानें तँ सोई ॥

परा सो पेम समुद्र अपारा । लहरहि लहर होइ विसभारा ॥

बिरह-भौर होइ भाँवरि देई । खिन जीउ हिलोरा लेई ॥

कठिन मरन ते पेम-बेवस्था । ना जिउ जियै, न दसवँ अवस्था ॥

जनु लेनिहार न लेहि जिउ, हरहि तरासहि ताहि ।

एतनै बोल आव मुख, करै “तराहि-तराहि” ॥”

—प्रेम खण्ड

×

×

×

“सुऐ कहा मन समुझहु राजा । करत पिरौत कठिन है काजा ॥

तुम राजा चाहहु सुख पावा । जोगहि भोगहि कत बनि आवा ॥

साधन्ह सिद्ध न पाइअ, जो लहि साध तप्प ।

सोइ जानहि बापुरे, खो सिर करहि कलप्प ॥”

×

×

×

“तू राजा का पहिरसि कंथा । तोरे घटहि माँह दस पंथा ।

काम, क्रोध, तिस्ना, मव माया । पाँचौं खोर न छाड़हि काया ॥

काम, क्रोध, तिस्ना, मद माया । पाँचों चोर न छाड़िं काया ॥
नव सेधें ओहि घर मझिआरा । घर मूसहि निसि कै उजियारा ॥

अबहू जागु अयाने, होत आव निसु भोर ।

पुनि किछु हाथ न लागहि, मूसि जाँहि जब चोर ॥”

×

×

×

“सुनि सो बात राजा मन जागा । पलक न मार पेम चित लागा ॥
नैनन्ह ढरहि मोति ओ मूँगा । जस गुर खाइ रहा हो गूँगा ॥
हिए की जोति दीप वह सूझा । यह जो दीप ओंधियार भा बूझा ॥
उलटि दिस्टि माया सौं रूठी । पलटि न फिरी जानि कै भूठी ॥
जो पै नाहीं अस्थिर दसा । जग उजार का कीजै बसा ॥
गुरू विरह चिनगी पै मेला । जो सुलगाइ लेइ सो चेला ॥
अब कै फनिंग भृङ्गि कै करा । भँवर होहि जेहि कारन जरा ॥
फूल फूल फिर पूछौं, जौं पहुँचौं ओहि खेत ।
तन नेवछावर कै मिलौं, ज्यों मधुकर जिउ देत ॥”

—प्रेम खण्ड

×

×

×

“तजा राज, राजा भा जोगी । ओँ किंगरी कर गहे वियोगी ॥
तन विसँभर-मन बाउर रटा । अरुभा पेम, परी सिर जटा ॥”

—जोगी खण्ड

बीहड़ मार्ग के अनेक संकटों और कष्टों को पार करके राजा सिंहलगढ़ पहुँच गया । और तब—

“पूछा राजा कहू गुरु सूआ । न जानौं आजु कहाँ दिन ऊवा ॥
पवन बास सीतल लै आवा । क्या दहत जुनु चदन लावा ॥
कबहुँ न अस जुडान सरोरू । परा अगिनि मेंह मलै समीरू ॥
निकसत आव किरिन रवि रेखा । तिमिर गए जग निरमर देखा ॥
उठे मेघ अस जानहु आगें । चमकै बीजु गगन पर लागें ॥
तेहि ऊपर जस ससि परगासू । ओ सो कचप चिन्ह भएउ गरासू ॥
ओर नखत चहुँ दिसि उजियारे । ठाँवहि ठाँव दीप अस बारे ॥

ओरु बछिन दिसि निअरें, कचन मेरु देखाव ।

जस बसत रितु आबै, तस बारु जस पाव ॥”

योग-मार्ग में सिद्धि-प्राप्ति के पूर्व आनन्द का आविर्भाव होता है, अनहद ना मुनाई पड़ता है, ज्ञान का प्रकाश सर्वत्र दिखाई पड़ता है, सारे वातावरण में दैवी सुगंध आती है । कबीर ने इसी स्थिति का निरूपण इस प्रकार किया है—

“गगन गरजि बरसै अमी, बाबल गहर गम्भीर ।

चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ॥”

इसी उल्लासमय स्थिति का निरूपण जायसी ने भी उक्त पद में किया है ।

राजा के योग का अप्रत्यक्ष प्रभाव पद्मावती पर पड़ रहा है । वह उसके प्रेम-वश हो गयी और उसे वियोग सताने लगा । रात्रि में उसे नींद नहीं लगती, शय्या काटने दौडती है । शीतलता प्रदायक चन्द्रमा, चन्दन आदि उसे ग्रंगार से लगते हैं । वह गम्भीर विरह में जलने लगती है । रात कल्प के समान बड़ी मालूम पडती है । क्षण-क्षण का समय युग-युग के समान बड़ी कठिनाई से कटता है । जब रात नहीं कटती तो वह वीणा ले लेती है कि शायद संगीत में रात कट जाय, पर वीणा का स्वर सुनकर चन्द्रमा का वाहन मृग स्वर मुग्ध होकर ठहर जाता है । इस प्रकार रात का बीतना और कठिन हो जाता है—

“गहै बीन मकु रैन बिहाई । ससि बाहन तब रहै ओनाई ॥

पुनि धनि सिंह उरे है लागे । ऐसी बिथा रैन सब जागे ॥

कहा सो भँवर कँवल रस लेवा । आइ परहु होइ धिरिन परेवा ॥

सो धनि बिरह पतंग होइ, जरा चाह तेहि दीप ॥

कंत न आवहु भृङ्गि होइ, को चंदन तन लीप ॥”

सूरदास ने भी इसी प्रकार राधा की आकुलता के वर्णन-क्रम में लिखा है—

“दूर करहु बीना कर धरिबो ।

मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिन होत चद को ढरिबो ॥”

पद्मावती की यह अवस्था देखकर उसकी धाय उसे समझाती है—

“जब लगि पिउ न मिलै तोहि, साधु प्रेम कै पीर ।

जैसे सीप सेवाति कह, तपै समुद मँझ नीर ॥”

यहाँ जायसी ने सूफी मतानुसार प्रिय-मिलन से पूर्व प्रेम की पीर का संकेत किया है ।

इसी बीच सुग्रा पहुच जाता है और उसके प्रति रतनसेन की गम्भीर आसक्ति का विशद वर्णन करता है । रतनसेन की अनुरक्ति और उसके संकटों का विवरण सुन पद्मावती का हृदय द्रवीभूत हो जाता है और वह उसके प्रेम में विभोर हो उठती है—

“सुनि कै बिरह चिनगि ओहि परी । रतन पाव जौ कंचन करी ॥

×

×

×

हीरामन जौ कही रस बाता । सुनि कै रतन पदारथ राता ॥

पद्मावती को सब समझा-बुझा कर हीरामन पुनः रतनसेन के पास लौटता

है—

आवा सुआ बंठ जँह जोगी । मारग नैन बियोग बियोगी ॥
 आइ पेम रस कहा संदेसू । गोरख मिला मिला उपदेसू ॥
 तुम्ह कहँ गुरु मया बहु कीन्हा । लीन्ह अदेस आदि कहँ दीन्हा ॥
 सबब एक होइ कहा अकेला । गुरुजस भृङ्गि फनिग जस चेला ॥
 भृङ्गि ओहि पंखिहि पं लेई । एकहि बार छुए जिउ देई ॥
 ताकँह गुरु करै असि माया । नब अवतार देइ नै काया ॥
 होइ अमर अस मरि कै जीया । भँवर कमल मिलि कै मधु पीया ॥
 आवै रितू बसैत जब, तब मधुकर तब बासु ।

जोगी जोग जो इमि करहि, सिद्धि समापति तासु ॥”

इस प्रकार कथा आगे बढ़ती है । अनेक लड़ाई भगड़े और वादविवाद के उप-
 रान्त दोनों का विवाह होता है और फिर बन्धन मुक्त हो दोनों मिलते हैं । प्रथम
 समागम के अवसर पर पद्मावती के मुँह से कवि ने कैसे व्यंग-गर्भित वाक्य कहल-
 वाए—

“मानचिन्ह पिउ काँपों मन माँहा । का मैं कहब गहब जी बाहाँ ॥
 बारि बंस गहै प्रीति न जानी । तरुनि भई मैमंत भुलानी ॥
 जोबन गरब न कछु मैं चेता । नेह न जानौ साम कि सेता ॥
 अब सो कंत जौ पूछिहि बाता । कस मुख होइहि पीत कि राता ॥”
 इसी प्रकार रत्नसेन के दिल्ली में कैद रहने पर पद्मावती का दृश्य देखिए ।
 “रोवहि मातु पिता औ भाई । कोइ न टेक जौ कंत चलाई ॥
 भरी सखी सब भेटत फेरा । अंत कंत सौं भएउ गुरेरा ॥
 कोउ काहू कर नाहि नयाना । माया मोह बाँध अरुभाना ॥
 जब पहुँचाइ फिरा सब कोऊ । चला साथ गुन ओगुन बोऊ ॥”

आध्यात्मिक प्रेम

सिंहल से चित्तौड़ जाते समय समुद्र में राक्षस और लक्ष्मी की कथा प्रसंग
 में अनेक ऐमे मार्मिक स्थल आये हैं जो आध्यात्मिक प्रेम की झलक देते हैं ।
 चित्तौड़ के अल्पकालीन निवास के उपरान्त ही राघवचेतन का निष्कासन और दिल्ली
 दरबार में उसका रूप वर्णन करना, अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण व सन्धि
 आदि के प्रसंग भी इस दिशा में हमारे सहायक हैं ।

दर्पण में पद्मावती का प्रतिबिम्ब, अलाउद्दीन द्वारा देखे जाने का वर्णन
 देखिए—

“बिहँसि भरोखे आइ सरेखी । निरखि साहि दरपन मेंह देखी ॥
 होतहि दरस परस भा लोना । घरती सरग भएउ सब सोना ॥
 राजा भेदु न जानै भाँपा । भँवख नारि पवन बिनु काँपा ॥”

इसी प्रकार रत्नसेन के दिल्ली में केद रहने पर पद्मावती का विलाप भी पठनीय है—

“सो दिल्ली अस निबहुर देसु । केहि पूछहुँ को कहै सदेसु ॥

जो कोइ जाइ तहाँ कर होइ । जो आवैं कछु जान न सोई ॥

अगम पंथ प्रिय तहाँ सिधावा । जो रे गअउ सो उहरि न आवा ॥”

अलाउद्दीन तथा देवपाल की दूती और पद्मावती के प्रसंग में प्रेम की बड़ी गंभीर व्यंजना जायसी ने प्रस्तुत की है। उन्हें जहाँ कहीं भी अवसर मिला है, पार-लौकिक प्रेम का संकेत करने में वे नहीं चूके हैं। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही कहा है—

“एक प्रबन्ध के भीतर शुद्ध भाव के स्वरूप का ऐसा उत्कर्ष जो पार्थिव प्रति-बन्धों से परे होकर अध्यात्मिक क्षेत्र में जाता दिखाई पड़े, जायसी का मुख्य लक्ष्य है। क्या संयोग, क्या वियोग दोनों में कवि प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देने लगता है जगत के समस्त व्यापार जिसकी छाया से प्रतीत होते हैं।”^१

पद्मावती और रत्नसेन के लौकिक प्रेम की सिद्धि का मार्ग बताते हुए जायसी ने जीव और ब्रह्म के चिरन्तन मिलन का मार्ग स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया है। सूफा मत की शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत चारों अवस्थाओं की ओर संकेत करना भी वे नहीं भूले हैं—

“चारि बसेरे जो चढ़ै सतसों उतरै पार ।”

इस प्रकार उन्होंने योगमार्ग की साधना का सहारा लेकर अपने ग्रंथ को एक अन्योक्ति^२ काव्य बना दिया है। वर्णित प्रेम-कथा के बीच-बीच में अनेकों स्थानों पर संसार की नश्वरता, शरीर की क्षणभंगुरता, साधना की जटिलता तथा प्रेम की सर्व-श्रेष्ठता आदि की ओर संकेत करते रहे हैं। लौकिक प्रेम-कथा तो उनके आध्यात्मिक विचारों के प्रगट करने का एक माध्यम मात्र थी। सारी प्रेम-कथा आध्यात्मिक संकेतों से भरी हुई है। भले ही वर्णन कसीटी पर सर्वत्र खरी न उतरती हो, परन्तु कवि की रुझान प्रमुख रूप से उधर ही थी, इसे तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। अब हम कतिपय ऐसे स्थानों के उद्धरण मात्र देकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं—

“बिरह के आगि सूर जरि कांपा । रातिउ दिवस जरै ओहि तापा ॥”

×

×

×

“परबत समुद अगम विय, बीहड़ घन बन ढाँख ।

किमि के भेटों कंत तुम्ह, ना मोहि पाव न पाँख ॥”

×

×

×

१. जायसी ग्रन्थावली

२. कुछ विद्वान इसे अनियोजित न मानकर समासोक्ति मानते हैं—संपादक

“पिउ हिरदय मँह भेंट न होई । को रे मिलाव कहौं केहि सोई ॥”

× × ×

“करि सिंगार तापर का जाऊं ? ओहि देखहुं ठावहिं ठाऊं ॥
जौ जिउ मँह तो उहै पिआरा । तन मन सो नहिं होइ निनारा ॥
नैन मांह है उहै समाना । देखौं तहाँ नाहिं कोउ आना ॥”

× × ×

“हौं रे पथिक पखेरू, जेहि बन मोर निबाहु ।
खेलि चला तेहि बन मँह, तुम अपने घर जाहु ॥”

× × ×

“देखि मानसर रूप सोहावा । हिय हुलास पुरइन होइ छावा ॥
गा अंधियार रैन मस छूटी । भा भिनसार किरन रवि छूटी ॥
‘अस्ति-अस्ति’ सब साथी बोले । अंध जो अहे, नैन निज खोले ॥”

× × ×

“ओहि मिलन जो पहुँचे कोई । तब हम कहब पुरुष भल सोई ॥
है आगे परबत के बाटा । विसअ हार, अगम सुठि घाटा ॥
बिच-बिच नदी खोह ओ नारा । ठाँवहि ठाँह बैठ बटमारा ॥”

× × ×

“गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया । पुरुष देखु ओही के छाया ॥
पाइअ नाहिं जूझ हठि कीन्है । जेइ पावा तेहि आपुहि चीन्है ॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मंझियारा । ओ तहँ फिरहि पाँच कोतवारा ॥
दसँव दुआर गुप्त एक नाँकी । अगम चढ़ाव, बाट सुठि बाँकी ॥
भेदी जाइ कोइ ओहि घाटी । जो लै भेब चढ़ै होइ चाँटी ॥
गढ़ तर कुण्ड सुरग तेहि माँहा । तहँ वह पथ, कहौं तोहि पाँहा ॥
दसँव दुआर ताल के लेखा । उलटि बिस्टि जो लाव सो बेखा ॥”

× × ×

अन्तिम उद्धरण मिहल की हाट का देखिए—

“जिन्ह एहि हाट न लीन्ह बेसाहा । ता कह आन हाट कित लाहा ?

कोई करै बेसाहनी, काहू करे बिकाइ ।

कोइ चलै लाभ सों, कोई मूर गंवाइ ॥”

(निष्कर्ष रूप में अब हम यह कहेंगे कि लौकिक प्रेम के वर्णन द्वारा आध्यात्मिक प्रेम की गंभीर-व्यंजना ही जायसी का मुख्य उद्देश्य है)

जायसी का रूप वर्णन

पद्मिनी जायसी के महाकाव्य 'पद्मावत' की नायिका और उनके सूफी धर्मानुसार ब्रह्म की लौकिक प्रतीक है। उसके सौन्दर्य वर्णन के माध्यम से उन्होंने उस चिरंतन महाज्योति के अपरिमित सौन्दर्य का वर्णन किया है। वस्तुतः रूप-सौन्दर्य-वर्णन ही पद्मावत की कथा का मूलाधार है। जायसी ने पद्मावती के रूप का बहुत ही विशद वर्णन उपस्थित किया है। अब हमें यह देखना है कि उनके रूप वर्णन के वे कौन-कौन से आकर्षण-बिन्दु हैं जिन्हें देखते ही पाठक की दृष्टि सौन्दर्य की लोकोत्तर भावना में मग्न हो जाती है।

दो स्थल

'पद्मावत' में रूप-सौन्दर्य-वर्णन की योजना आठ स्थलों पर की गई है। उनमें से भी दो स्थलों पर अलौकिक सौन्दर्य-समन्वित, पद्मावती के स्त्री-रूप का वर्णन विशेष उल्लास और उत्साह से किया गया है। वे दोनों प्रमुख स्थल ये हैं—

✓ १. तोते द्वारा राजा रत्नसेन के सम्मुख।

✓ २. राघव चेतन द्वारा बादशाह अलाउद्दीन के सम्मुख।

दोनों वर्णन नखशिख प्रणाली पर हैं। यद्यपि फारसी शैली से प्रभावित होने के नाते जायसी ने उसे शिख-नख रूप में उपस्थित किया है। अंग प्रत्यंगों के वर्णन के लिए प्रमुखतः सादृश्यमूलक उपमानों का विधान किया गया है। अधिकतर उपमान परम्परा प्रचलित ही हैं। हाँ, कुछ उपमान फारसी साहित्य के प्रभाव से भी आ गए हैं और कुछ लोक ग्रहीत तथा कुछ नवीन मौलिक उपमान हैं।

पद्मिनी के सौन्दर्य को कवि ने दिव्य-सौन्दर्य के रूप में देखा है। इसी नाते गर्भकाल से ही उस अलौकिक-सौन्दर्य की भाँकी प्रस्तुत करने में वह सतर्क है। कवि का संकेत देखिए—

“प्रथम सो जोति गगन निरमई। पुनि सो पिता माथे मनि भई ॥

पुनि वह ज्योति मातु घट आई। तेहि ओबर आबर बहु पाई ॥

जस ओघान पूर होई तासू। दिन-दिन हिए होइ परगासू ॥

जस कंचन भीने मँह बीया। तस उजियार बिलाव हीया ॥”

दिव्य-सौन्दर्यशालिनी का जन्म हो गया :—

“भए दस मास पूरि भैं घरी । पद्मावति कन्या ओतरी ॥

✓ जानहु सुरुज किरन हुति काढ़ी । सूरज करा घाटि वह बाढ़ी ॥
भा निसि मांह दिन कै परगासू । सब उजियार भएउ कवि लासू ॥

अते रूप भइ कन्या, जेहि सरि पूज न कोई ॥”

अलौकिक रूपा पद्मावती के रूप-वर्णन के निम्नलिखित आकर्षण बिन्दु विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

१. पद्मावती का पारस रूप ।
२. रूप सौन्दर्य का सृष्टि-व्यापी प्रभाव तथा लोकोत्तर-कल्पना ।
३. अप्रस्तुत-विधान ।
- ✓ ४. यौवन-भार-भरिता पद्मिनी का नख-शिल्प ।
- ✓ ५. रूप-सौन्दर्य के उपमान ।
- ✓ ६. उपमान रूपों का सौन्दर्य ।

पारस रूप

पद्मावती रूप को कवि ने पारस-रूप की सजा दी है । उस पारस-रूप की चर्चा ‘पद्मावत’ में स्थान-स्थान पर आई है । मानसरोवर खण्ड की अन्तिम पक्तियों में पद्मावती के पारस-रूप की व्यजना देखिए—

“कहा मानसर चाह सो पाई । पारस-रूप इहां लगि आई ॥

भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे । पावा रूप, रूप के दरसे ॥

मलय समीर बास तन आई । भा शीतल गै तपनि बुझाई ॥

विगसे कुमुद देखि ससि रेखा । भैं तेहि रूप जहां जो देखा ॥

पाए रूप, रूप जस चाहा । शशि मुख सब दरपन होइ रहा ॥

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर ॥

हंसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर ॥”

“पद्मावती के हंसते ही चन्द्र किरण सी आभा फूटी, इससे सरोवर के कुमुद खिल उठे । यहीं तक नहीं, उसके चन्द्रमुख के सामने वह सारा सरोवर दर्पण सा हो उठा अर्थात् उसमें जो-जो सुन्दर वस्तुएं दिखाई पड़ती थीं वे सब मानों उसी के अंगों की छाया थीं । सरोवर में चारों ओर जो कमल दिखाई पड़ रहे थे उसके नेत्रों के प्रतिबिम्ब थे; जल जो इतना स्वच्छ दिखाई पड़ रहा था वह उसके स्वच्छ निर्मल शरीर के प्रतिबिम्ब के कारण । उसके हास की शुभ्र कांति की छाया वे हंस थे जो इधर-उधर दिखाई पड़ते थे और उस सरोवर में (जिसे जायसी ने एक भील या छोटा समुद्र माना है) जो हीरे थे उसके दर्शनों की उज्ज्वल दीप्ति से उत्पन्न हो गए थे । पद्मावती का रूप वर्णन करते-करते किस सौन्दर्य सत्ता की ओर कवि की दृष्टि

जग पड़ी है। जिसकी भावना संसार के सारे रूपों को भेदती हुई उस मूल सौन्दर्य सत्ता का कुछ आभास पा चुकी है वह सृष्टि के सारे सुन्दर पदार्थों में उसी का प्रतिबिम्ब देखता है।”^१

जायसी की इन्हीं पंक्तियों की प्रशंसा करते हुए प्रो० शिवसहाय पाठक लिखते हैं:—‘वह है पद्मावती के पारस रूप का लोकोत्तर-सृष्टि व्यापी प्रभाव। जिस प्रकार पारस पत्थर के स्पर्शमात्र से कुधातु स्वर्ण बन जाती है, उसी प्रकार पद्मावती का ‘पारस रूप’ समस्त सृष्टि को अपने रंग में रंग सकता है। उसी के आलोक से समग्र संसृति आलोकित है। पारस रूप वाली पद्मावती सरोवर के पास तक चली आई, तब सरोवर उन चरणों के स्पर्श करने से निरमल हो गया। ‘पावा रूप-रूप के परसे’ उस पारस रूप के दर्शन मात्र से सरोवर रूपवान् हो गया। उसकी चन्द्रकला को देखकर कुमुद विकस गए आदि।”^२

इसी प्रकार कवि ने राजा सुआ संवाद खण्ड में भी पद्मावती के ‘पारस रूप’ के सृष्टिव्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना की है—

“सुनि रवि नाव रतन भा राता । पंडित फेरि उहै कहु बाता ॥

तीन लोक चौदह खंड सर्वाहि परं मोहि सूहि ।

प्रेम छाँड़ि नहि लोन किछु जो देखा मन बूझि ॥”

नीचे की पंक्तियों में, लिलाट कांति के माध्यम से लोकोत्तर तथा सृष्टिव्यापी ज्योति का वर्णन देखिए:—

‘पारस जोति लिलाटहि ओती । दृष्टि जो करं होय तेहि जोती ॥

ससि और सूर जो निरमल, तेहि लिलाट के ओप ।

निसि बिन दौरि न पूजहि, पुनि-पुनि होहि अलोप ।”

अलाउद्दीन जैसे अधम पात्र को भी दर्पण द्वारा उस पारस रूप का प्रतिभास हो जाता है:—

“विहोसि भरोखे आइ सरेखी । निरखि साह दरपन भँह देखी ॥

होतहि बरस, परस भा लोना । धरती सरग भएउ सब सोना ॥”

सृष्टिव्यापी प्रभाव

अन्य प्रेमाख्यानक कवियों की भांति जायसी ने भी अपनी काव्य-नायिका के चरम सौन्दर्य का उद्घाटन किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने पद्मावती के रूप वर्णन की विशेषताओं पर विचार करते हुए लिखा है—“केशों की दीर्घता, सघनता और श्यामता के वर्णन के लिए परम्परा से प्रचलित पद्धति के अनुसार केवल सादृश्य पर जोर न देकर कवि ने उसके लोकव्यापी प्रभाव की ओर संकेत किया है।” इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का भी मत कुछ इस प्रकार है—“केशों की

१. जायसी ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल—भूमिका भाग

२. पद्मावत का काव्य-सौन्दर्य ।

वीर्यता, सघनता और श्यामता के लिए सादृश्य पर जोर न देकर कवि ने उनके प्रभाव की उद्भावना की है। इस छाया और अन्धकार में माधुर्य और शीतलता में, भीषणता नहीं।" वस्तुतः जहाँ कहीं जायसी को अवसर मिला है, वे तुरन्त श्लेष, समासोक्ति आदि के माध्यम से सृष्टिव्यापि सुन्दर सत्ता की ओर इंगित करने से नहीं चूकते—

“सरवरि-तीर पद्मिनी आई। खोपा छोरि केस मुकलाई ॥

ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा ॥

बेनी छोरि छार जौ बारा। सरग पतार होइ अधियारा ॥”

इसी प्रकार पद्मावती के पुतली फेरने से उत्पन्न यह प्रभाव देखिये—

“जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अड़ार जाहि पल माँहा ॥

जबहि फिरहि गगन गहि बोरा। अस वे भँवर चक्र कै डोरा ॥

पवन भूकोरहि देहि हिलोरा। सरग लाइ भुँह लाइ बहोरा ॥”

मंद मृदु हास का विशद चमत्कारिक प्रभाव तो पारस रूप के अन्तर्गत देख ही चुके हैं। अब भीहों का वर्णन देखिए—

“भीहें श्याम धनुक जनु ताना। जासहुँ फेर हनँ विष बाना ॥

उहै धनुक किरपुन पर अहा। उहै धनुक राधौ कर गाहा ॥

ओहि धनुक रावन सघारा। ओहि धनुक कंसासुर मारा ॥”

पद्मावती के भूकुटी विलाम का भी सृष्टिव्यापी प्रभाव वर्णित है—

“बरुनी का बरनौ इमि बनी। साथै बान जान दुइ अनी ॥”

बरुनी को बाणों का रूप देकर संसार के रोम-रोम में उसका अस्तित्व घोषित करना वास्तव में उच्चकोटि का संकेत है। यह कवि की प्रतिभा की महानता है।”^१

“उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ ससारा ॥

गगन नखत जो जाहि न गने। वे सब बान ओहि के हने ॥

घरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाड़ देहि सब साखी ॥

रवि ससि नखत दिपाहि ओहि जोती। रतन पवारथ मानिक मोती ॥

‘बेनि छोरि भार जो बारा।’ रंनि होइ जग दीपक लेसा ॥”

“ऊपर की चौपाइयों से स्पष्ट है कि पद्मावती के रूप वर्णन में जायसी ने सौंदर्य के स्पष्टव्यापी प्रभाव की लोकोत्तर कल्पना की है। लगता है कि जायसी की भावना ससार के समस्त रूपों को भेदती हुई उस अप्रतिम अनन्त मूल सुन्दर सत्ता का कुछ प्रतिभासित ज्ञान प्राप्त कर चुकी थी। अतः वे सृष्टि के नाना पदार्थों में उसी का प्रतिबिम्ब प्रोद्भाषित रूप में देखते हैं।”^२

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ४५८

—डा० रामकुमार वर्मा

२. पद्मावत का काव्य-सौंदर्य, पृष्ठ ६४—प्रो० शिवसहाय पाठक

अप्रस्तुत विधान (उपमान रूप)

पद्मावत में प्रयुक्त उपमानों को स्थूल रूप से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है.—

१. नखशिख वर्णन के उपमान ।
२. अन्य विषयों के वर्णनों से सम्बन्धित उपमान ।

इन दोनों वर्गों पर प्रकाश डालते हुए प्रो० पाठक लिखते हैं— “इन दो कोटियों के अन्तर्गत जायसी द्वारा गृहीत साहित्यिक परम्परा के रूढ़िगत उपमान, जायसी द्वारा गृहीत लोक-परम्परा और लोक जीवन के उपमान तथा जायसी के नवीन मौलिक उपमान सम्मिलित हैं । इसी अप्रस्तुत विधान के अन्तर्गत जायसी द्वारा प्रयुक्त भाव वर्णन के उपमान तथा वस्तु वर्णन के उपमान भी आ जाते हैं । जायसी ने उत्कृष्ट कोटि के अप्रस्तुत विधान द्वारा पद्मावत के काव्य-सौन्दर्य को अपेक्षाकृत अधिक तीव्र बताया है ।”^१

पद्मावती का नखशिख

जन्म-खण्ड में ही जायसी ने पद्मावती के सक्षिप्त नखशिख का बड़ा ही मन-मोहक और ललित वर्णन किया है । वर्णन का आकर्षण देखिए .

“भै उनन्त पद्मावत बारी । रचि-रचि विधि सब कला सँवारी ॥
जग वेधा तेहि अँग सुवासा । भँवर आइ लुब्धे चहुँ पासा ॥
बेनी नाग मलयगिरि पंठी । ससि माथे होइ दूइज बंठी ॥
भौह धनुष साधे सर फेरै । नयन कुरंग भूलि जनु हेरै ॥
नासिक कीर कँवल मुख सोहा । पद्मिनी रूप देखि जग मोहा ॥
मानिक अधर, बसन जनु हीरा । हिय हुलसे कुच कनक गँभीरा ॥
केहरि लंक, गवन गज हारे । सुन नर देखि माथ भुंह धारे ॥

जग कोइ दीठि न आवे, आछहि नैन अकास ।

जोगी जती सन्यासी, तप सार्धाहि तेहि आस ॥”

इसमें अप्रस्तुत उपमानों के द्वारा पद्मावती के अप्रतिम रूप का वर्णन किया गया है । कवि ने श्लेष का सहारा लेकर दो-दो अर्थों की निष्पत्ति की है । एक तो इसमें पद्मावती रूपी बाग का चित्रण किया गया है और दूसरे यौवन भार से झुकी कुमारी पद्मावती के अंग-प्रत्यंगों का रूप वर्णन है । यहाँ ‘बारी’ शब्द श्लिष्ट है । बारी का अर्थ बाग भी होता है और बालिका अथवा कुमारी भी ।

रूप-सौन्दर्य के उपमान

पद्मावत में आठ स्थलों पर नखशिख वर्णन मिलतेहैं:—

१. सिंहल की वेश्याओं का अव्यवस्थित नखशिख ।

१. पद्मावत का काव्य-सौन्दर्य—प्रो० शिवसहाय पाठक

२. यौवन-भार-भरिता पद्मावती का नखशिख (रूप वर्णन)

३. मानसरोवर में स्नान के लिए उद्यत पद्मावती के केश खोलते समय का संक्षिप्त व्यंजनात्मक नखशिख ।

४. हीरामन शुक द्वारा रत्नसेन से कथित पद्मावती का नखशिख (रूप वर्णन) ।

५. लक्ष्मी-समुद्र खण्ड में व्यथित, मुरझाई और क्लान्त पद्मावती का नखशिख ।

६. नागमती और पद्मावती के वादविवाद में आत्मप्रशंसा रूप में वर्णित नखशिख ।

७. पद्मावती का नागमती से आत्मश्लाघात रूप में वर्णित सौंदर्य ।

८. अलाउद्दीन से राघवचेतन द्वारा कथित पद्मावती का नखशिख ।

इनमें से प्रथम को छोड़कर शेष सभी पद्मावत से सम्बन्धित हैं । इन सभी स्थानों पर जायसी ने शरीर के विभिन्न अंगों उपांगों के लिए जिन उपमानों के प्रयोग किए हैं वे समष्टि रूप में निम्नलिखित हैं :—

केश-राशि—जिसके लिए नाग, नागिन, कस्तूरी, प्रेम जंजीर, भ्रमर तथा राहु आदि प्रयुक्त हुए हैं ।

मस्तक (मांग) —यमुना में सरस्वती, वीरबहूटी, विद्युत, आरक्त अस्ति' कंचन रेखा, सूर्यकिरण, बग पक्वित, राग रंजित मधुऋतु आदि ।

ललाट—सूर्यकिरण, द्वितीया का चन्द्र, पारम ज्योति आदि ।

भौह—धनुष आदि ।

नेत्र—रक्त कमल, खंजन, तुशा, तरंग, मानिकमय सरोवर आदि ।

वरुनी—राम रावण की सेना, संधान किया गया बाण ।

नासिका—शुक, सेतु बंध, आर्से, तिल, पुष्प आदि ।

अधर—दुपहरिया फूल, विद्रुम, माणिक्य, सूर्य (प्रातःकालीन) रक्त रंजित आर्से ।

बांत—हीरा, दाड़िम, विद्युत, श्याम, मकोय आदि ।

रसना—अमृत कौप, सरसुती की जीभ आदि ।

कपोल—खांड के लड्डू, कमल, गेंद, नारंग आदि ।

तिल—घुंघुची का काला मुंह, भ्रमर, विरह की स्फुर्लिंग तथा अग्निवाण व ध्रुव आदि ।

श्रवण—नक्षत्र खचित चन्द्र, सूर्य, सीप आदि ।

मुख—चन्द्र तथा पद्मनाल आदि ।

ग्रीवा—कम्बु, सुराही, मयूर, घिरिन परेवा, तमचुर आदि ।

भुजा—कनक दण्ड, कदली गात, पद्मनाल, चंदन खंभ आदि ।

हथेली—कमल ।

स्तनद्वय (उरोज) —कंचन लड्डू, कनक कचौड़ी, कंचन बेल, नारंगी, जंभीर, नीफल, अग्निवाण, तुरंग, लट्ठू आदि ।

कुचाग्र भाग—श्याम छत्र ।

रोमावलि—श्याम सर्पिणी ।

कटि—भृंग, कमल नाल के रेशे, केहरिलक ।

नाभि—मागर भेंवर ।

पीठ—मलयगिरि ।

उर—कदली स्तम्भ ।

जाँघ—केरा खंभ ।

चरण—कमल ।

गति—गजगति, हंसगति ।

उपमान रूपों का सौंदर्य

उपर्युक्त समस्त बातों की चर्चा करते हुए प्रो० पाठक लिखते हैं—“संक्षेप में नखशिख और रूप वर्णन में प्रयुक्त हुए उपमानों की दो कोटियाँ हैं—(१) प्रकृति से गृहीत उपमान (२) अन्य सांसारिक वस्तुओं से सम्बन्धित उपमान । उक्त नखशिख वर्णन में अधिकांशतः उपमान प्रकृति से गृहीत है । कमल, भ्रमर, चन्द्र, सूर्य, प्रकृति उपमान प्रकृति क्षेत्र से गृहीत हैं; खंभ प्रभृति उपमान अन्य सांसारिक वस्तुओं से गृहीत उपमानों की कोटि में आते हैं । अन्य सांसारिक वस्तुओं से गृहीत उपमानों की संख्या अपेक्षाकृत कम है । माँग के लिए आसंधार, नासिका के लिए सेतुबंध और तलवार एवं उरोज के लिए क्रमशः कमल के लट्ठू ।

उपमानों के चयन में कतिपय स्थलों पर जायसी की मौलिकता तथा स्वतन्त्र नवीन कल्पना शक्ति ने सौन्दर्य को जीवित रूप प्रदान किया है । मौलिक उपमानों के चयन में जायसी परम्परागत उपमानों की सीमित परिधि से ऊपर उठे हुए तथा मुक्त हैं । जायसी के मौलिक उपमान प्रधानतः प्रकृति से गृहीत न होकर अन्य सांसारिक पदार्थों से गृहीत हैं ।”

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी ने पद्मिनी के रूप-सौन्दर्य का वर्णन बड़े ही मनोयोग से किया है । वह पाठकों को सौन्दर्य की लोकोत्तर भावना में मग्न करने वाला है । अपूर्व सुन्दरी पद्मिनी का सौन्दर्य जायसी की तूलिका से बहुत सुन्दर और उचित रूप में आँका गया है । कहीं-कहीं वर्णन में अतिशयोक्ति अवश्य आ गई है, पर वहाँ भावात्मक दृष्टि अथवा अनुभूति-पक्ष की प्रधानता है । इस प्रकार जायसी का रूप वर्णन उक्त दोष से बच जाता है । पद्मिनी का आकर्षण लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि में पूर्ण समर्थ है ।

१. पद्मावत का काव्य-सौंदर्य—प्रो० शिवसहाय पाठक

जायसी का प्रकृति-चित्रण

प्रकृति अनादिकाल से ही मानव की सहचरी रही है। उसके जीवन की अनुभूतियाँ प्रकृति की कोड़ में ही विकास की विविध शाखाओं से अपना स्नेह-सम्बन्ध जोड़ सकी है। मानव की गतिविधि में प्रकृति की गतिविधि प्रारम्भ से ही डोलती आई है। दोनों में एक प्राण, दो-देह का सम्बन्ध है। तात्पर्य यह है कि मानव और प्रकृति का संयोग पुरातन संयोग है। दोनों जन्म से ही एक दूसरे पर मुग्ध हैं।

कविता-कामिनी के शृंगार में प्रकृति ने अपना सर्वाधिक योग-प्रदान किया है। देश और काल से प्रभावित होने हुए भी कवियों ने विविध रूपों में प्रकृति को निहारा है। भावुक जायसी के हृदय ने भी प्रकृति के साथ नाना क्रीड़ाएँ की हैं। उनके काव्य में प्रकृति के अनेक सुन्दर और हृदयग्राही स्थान हैं जिनसे उनके सूक्ष्म निरीक्षण और अनुभव शक्ति का पता चलता है। जायसी के प्रकृति-चित्रण को निम्न-लिखित रूपों में विभाजित किया जा सकता है:—

- १—अलंकारिक रूप।
- २—उद्दीप्त रूप।
- ३—भावार्थमय रूप।
- ४—रहस्यात्मक रूप।
- ५—उपदेशात्मक रूप।
- ६—प्रतीकात्मक रूप।
- ७—वस्तु-परिगणन रूप।
- ८—स्वतन्त्र रूप।

अलंकारिक रूप

अलंकारिक वर्णनों में अन्य कवियों की भाँति जायसी ने भी प्रकृति को अमोघ अस्त्र के रूप में अपनाया है और उसकी सहायता से अपनी अलंकार-योजना में प्राण फूँका है। प्रकृति-प्रांगण में लहराते उपमानों के मनोहर उपवन ले उन्होंने मनचाहे पुष्प चुने हैं। देखिए तोता, राजा रत्नसेन से पद्मावती के इयामल केश राशि के बीच निकली सेद्वर-रहित माँग का वर्णन करते समय किस कुशलता से प्रकृति से उपमान लेता है—

“बरनों मांग सीस उपराहीं । सेंदुर अबहीं चढ़ा तेहि नाही ॥
बिन सेंदुर अस जानहु बिया । उजियर पंथ रैन मँह किया ॥
कंचक रेख कसोटी कसी । जनु घन मँह दामिनि परगसी ॥
सुरज फिरनि जस गगन बिसेखी । जमुना माँझ सरसुती देखी ॥”

× × ×
इसी प्रकार क्रमशः ललाट तथा नेत्रों का वर्णन देखिए—
‘कहाँ लिलाट दुइजि कै जोती । दुइजिहिं जोती कहा जग ओती ॥
× × ×
“नैन चतुर वं रूप चितेरे । कंबल पत्र पर मधुकर घेरे ॥
समुद तरंग उठिहं जनु राते । डोलहिं तस घुमहिं जनु माते ॥
सरब चंद मँह खंजन जोरी । फिरि-फिरि लरहिं अहोर बहोरी ॥”

× × ×
सिंहलदीप से पद्मिनी को साथ लेकर रत्नसेन जब चितौड़ वापिस पहुँचा और रात में नागमती के शयनकक्ष में गया तो उस समय नागमती की भाव व्यंजना प्रकृति के योग से कितनी मनोहर हो उठी ।

“काह हँसौ पिय मोसों, किएउ और सो नेह ।
तुम मुख चमकैं बीजुरी, हम मुख बरसैं मेह ॥”

× × ×
प्रकृति के सहारे जायसी ने जो दशा-व्यजना प्रस्तुत की है वह भी कम आकर्षक और प्रभावोत्पादक नहीं :—

“सरग सीस धर धरती, हिया सो प्रेम समुंद ।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेइ उठिहं सो बुंद ॥
गगन सरोवर ससि कंबल, कुसुम तराइनह पास ।
तु रवि ऊआ भौर होइ, पौन मिला लेइ बास ॥
कमल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ मुलाइ ।
अबहुँ बेलि पुनि पलु है, जो पिउ सींचि आइ ॥

× × ×
पद्मावती का प्रकृति के उपमानों के सहारे धाय के प्रति यह कथन देखिये :—
“जोबन चाँद उआ जस, बिरह भएउ संग राह ।

घटति घटत अति खीन भा, कहै न पौ काह ॥”

समाप्नोक्ति के सहारे कवि ने प्रकृति का चित्रण अनेक स्थानों पर किया है । कथा के प्रारम्भ में सिंहलद्वीप का वर्णन करता हुआ वह वृक्षों की छाया का प्रसंग आते ही अग्रस्तुत की ओर संकेत करता है । स्थल दर्शनीय है :—

“घन अँलराउं जाग चहुँ पासा । उठै पुहमिहुति लागि अकासा ॥
तरिवर सबं मलैयगिरि लाए । भइ जग छाँह रैन होइ छाए ॥

“मलै समीर सोहभ छांहा । जेठ जाड़ लागै तिहि मांहा ॥
 ओही छांह रंनि होइ आबै । हरियर सबै अकास देखावै ॥
 पथिक जो पहुँचे सहिकें घाम् । दुख बिसरै सुख होइ बिसराम् ॥
 जेइ वह पाई छांह अनूप । फिरि नहिं आइ सहि वह धूपा ॥
 अस अमराउ सघन घन, बरनि न पारौं अन्त ।
 फूले फरै छहौं ऋतु, जानहु सदा बसन्त ॥”

उद्दीपन रूप

इस रूप में जायसी ने दो प्रकार का चित्रण किया है:—

१—सुखद रूप उद्दीपन ।

२—दुःखद रूप उद्दीपन ।

सुखद रूप उद्दीपन

पद्मावती परिणय के उपरान्त षट्ऋतु वर्णन की भूमिका में, मानसरोवर तथा बसंत वर्णन में सुखद उद्दीपन के चित्र हैं। कतिपय स्थलों द्वारा वर्णन-मनोहरता का आस्वादन कीजिए। राजा रत्नसेन के साथ संयोग होने पर पद्मावती को पर्वत की शोभा का कैसा अनुभव हो रहा है —

पद्मावति चाहनि ऋतु पाई । गगन सोहावन भूमि सोहाई ॥
 चमकै बीजु, बरिसै जल सोना । दादुर मोर सबद सुठि लोना ॥
 रंग राति पीतम सँग जागी । गरजै गगन चौकि गर लागी ॥^१
 शीतल बूँद ऊँच चौबारा । हरियर सब देखिय संसारा ॥
 हरियर भूमि, कुसंभी चोला । औ धनि पिउ संग रचा हिंडोला ॥”

नागमती को जो बूँदें विरह-दशा में बाण की तरह लगती हैं, पद्मावती को संयोग-दशा में वे ही बूँदें कौंधे की चमक में सोने की सी लगती हैं। शरद् ऋतु का आनन्द देखिए —

“आइ सरद रितु अधिक पियारी । नौ कुवार कातिक उजियारी ॥
 पदुमावति भैं पुनिउँ-कला । चौदह चंद उर सिंहला ॥
 सोरह करा सिंगार बनावा । नखत न्ह भर सुरुज-ससि पावा ॥
 भानिरमर सब धरनि अकासू । सेज सँवारि कीन्ह फुल बासू ॥
 सेज बिछावन औ उजियारी । हँसि-हँसि मिलहि पुरुष औ नारी ॥
 सोन फूल पिरिथिमी फूली । पिय धनि सौँ, धनि पिय सौँ भूली ॥
 बल्लु अंजन दै खजन देखावा । होइ सारस जोरी पिउ पावा ॥
 एहि रितु कता पास जेहि, सुख तेहि के हिय मांह ।
 धनि हँसि लागै पिउ गरै, धनि गर पिउ के बांह ॥”

१. रंग राती पिय संग निसि गै । गरजै-चमकै चौकि कँड़ गै ॥

हेमन्त और बसंत के बिना तो यह वर्णन अधूरा ही रह जायगा । अतः उसे भी देखिए—

“रितु हेमंत संग पियउ पियाला । अगहन पूस शीतल सुख काला ॥
 धनि ओ पिय मँह सोउ सोहागा । दुहुँक अग एक मिल लागा ॥
 मन सौ मन, तन सौ तन गहा । हिय सौ हिय, बिच हार न रहा ॥
 जानहुँ चंदन लागेउ अगा । चंदन रहै न पावै सगा ॥
 भोग करहि सुख राजा रानी । उन्ह लेखे सब सिस्टि जुड़ानी ॥
 जूझै दुबौ जोबन सौ लागा । बिच हुत सीउ जीउ लेइ भागा ॥
 बुइ घट मिलि एक होइ जाहीं । ऐस मिलहि, तबहुँ न अघाहीं ॥
 हंसा केलि करहि जिमि, खूँदहि कुरलहि दोउ ।
 सीउ पुकारै ठाढ़ भा, जस चकई क बिछोउ ॥”

× × ×
 “प्रथम बसंत नवल रितु आई । सुरितु चंत बैसाख सोहाई ॥
 चन्दन चीर पहिरि धनि अंगा । सेदुर दीन्ह बिहंसि भरि मंगा ॥
 कुसुम हार ओ परिमल बासू । मलयागिरि छिरका कबिलासू ॥
 सौर सुयेती फूलन्ह डासी । धनि ओ कंत मिले सुख बासी ॥
 पिय संजोग धनि जोबन बारी । भँवर पुहंप संग करहि धमारी ॥
 होइ फागु भलि चाँचरि जोरी । बिरह जराइ दीन्ह जसि होरी ॥
 धनि ससि सियरि तपै पिय सूरू । नखत सिंगार होंहि सब चूरू ॥
 जेहि घर कन्ता रितु भली, आउ बसन्ता निचु ।
 सुख बहरावै देव हरै, दुख न जानहि कितु ॥”

दुखद उद्दीपन रूप

नागमती प्रियतम के बिरह में झुलस रही है । उस प्रकृति का विकास अच्छा नहीं लगता, अपितु और भी दुख बढ़ रहा है । जिधर भी उसकी दृष्टि जाती है, उधर ही उसे अपने विरह को उद्दीप्त करने वाली सामग्री दिखाई देती है, अषाढ़ के घिरते हुए बादल उसके हृदय में हर्ष का संचार न करके ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो उसे मदन की सेना घेरती आ रही हो—

“बड़ा असाढ़ गगन धन गाजा । साजा बिरह दुब बल साजा ॥
 धूम साम धोरे धन धाए । सेत धजा बग पाँति देखाए ।
 खड़ग बीजु चमकै चहुँ ओरा । बुंद-बान बरसहि धनघोरा ॥
 ओनई घटा आइ चहुँ फेरो । कंत ! उबार मदन हों घेरो ॥
 बादुर मोर कोकिला, पीऊ । गिरै बीजु, घट रहै न जीऊ ॥”
 इसी तरह कार्तिक में शरद् ऋतु का शशि उसके विरह को कई गुना बढ़ा

देता है—

“कातिक सरब चन्द उजियारी । जग शीतल हों विरहै जारी ॥
चौदह करा चाँद परगासा । जनहुँ जरै सब धरति अकासा ॥
तन मन सेज करै अगि दाहू । सब कहँ चंद, भएउ मोहि राहू ॥”

फागुन का दृश्य देखिए—

“फागुन पवन भकोरा बहा । चौगुन सीउ जाइ नहि सहा ॥
तन जस पियर पात भा भोरा । तेहि पर बिरह देइ भकभोरा ॥
तरिवर भरहि-भरहि बन ढाखा । भइ ओनंत फूल फरि साखा ॥
करहि बनस्पति हिए उलासू । मो कहँ भा जग दून उदासू ॥
फागु करहि सब चाँचरि चोरी । मोहि तन लाइ दीन्ह जस होरी ॥”

ऐसे ही बारहो महीनो मे प्रकृति का विकास नागमती के विरह को उद्दीप्त करता रहता है । पद्मावती के विरह मे भी कवि ने यथास्थल प्रकृति के उद्दीपन रूप का सहारा लिया है ।

भावात्मक रूप

इस शैली में कवि ने प्रकृति को अपने भावुक हृदय की आँखों से देखा है । भावुकतावश वर्णन अतिरंजित हो गया है, किन्तु प्रकृति का सत्य पूर्ण वेग से उद्घाटित हुआ है । यह तो सभी जानते हैं कि समुद्र का वर्णन करके जायसी ने हिन्दी काव्य-साहित्य मे एक बड़ा ही मनोहारी और नवीन अध्याय जोड़ा है । उन्होंने सातों समुद्रों की कल्पना की है । उनमे से किलकिला समुद्र का वर्णन हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं अतिशयोक्ति पूर्ण होते हुए भी भावात्मक और सशक्त है—

“भा किलकिला अस उठै हिलोरा ।^१ जनु अकास दूटै चहुँ ओरा ॥
उठे लहर परबत की नाई । फिर आवै जोजन सो ताई ॥
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा । सकल समुंद जनहुँ भा ठाढ़ा ॥
नीर होइ तर ऊपर सोई । माथे रंग समुंद जस होई ॥
फिर समुंद जोजन लख ताका । जैसे फिरै कुम्हार का चाका ॥”

सागर की भयानकता, बड़ी-बड़ी गम्भीर लहरों, हिलोरों का कितना सजीव चित्रण है । भँवरों वर्णन में उसने और भी मनोहरता ला दी है । इसी प्रकार भावात्मक शैली का एक दूसरा उदाहरण लीजिए:—

“ताल तलाब बरनि नहि जाहीं । सूझै बार पार किछु नाहीं ॥
फूले कुमुद सेत उजियारे । मानौ उए गगन महँ तारे ॥
उतरहि मेघ चढ़हि लेइ पानी । चमकहि मच्छ बिजु कँ बानी ॥

रहस्यात्मक रूप

इस शैली में जायसी ने प्रकृति का अत्यन्त व्यापक चित्र प्रस्तुत किया है ।

१. गा धीरज वह देखि हिलोरा ।

उन्होंने प्रकृति का कण-कण उस परम प्रियतम के अनन्त सौन्दर्य से परिवेष्टित देखा है; सर्वत्र उसकी छाया का आभास प्राप्त किया है। उस परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य सत्ता की ओर लौकिक दीप्ति और सौन्दर्य के द्वारा जायसी कितना सुन्दर संकेत करते हैं :—

“बहुत जोति-जोति ओहि भई ।

रवि ससि नखत विर्पाहि ओहि जोती ।

रतन पदारथ मानिक मोती ॥

जह बिहसि सुभावहि हँसी । तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी ॥

नयन जो देखा कँवल भा, निर्मल नीर सरीर ।

हँसत जो देखा हँस भा दसन जोति नगहीर ॥”

प्रकृति के बीच दिखाई देने वाली सारी दीप्ति उसी से है। इस बात का आभास हमें पद्मावती के प्रति कहे गए रत्नसेन के वाक्य से मिलता है—

“अनु धनि ! तू निसिअर निसि माँहा । हों दिनअर जेहि कं तू छाँहा ॥

चाँदहि कहा जोति औ करा । मुरुज के जोति चाँद निरमरा ॥”

मानस के भीतर प्रीतम के सामीप्य से उत्पन्न उस अपरिमित विश्वव्यापी आनन्द की व्यंजना में प्रकृति का रहस्यात्मक रूप ही चित्रित हुआ है। देखिए वर्णन कितना हृदयग्राही है:—

‘देखि मानसर रूप सोहावा । हियँ हुलास पुरइनि होइ छावा ॥

गा अँधियार रैन-मसि छूटी । भा भिनसार, किरन रवि फूटी ॥

कँवल बिगस तह बिहँसी देहीं । भवर दसन-होइ कै लेहीं ॥”

उपदेशात्मक रूप

प्रकृति का यह रूप कवि की लेखनी से बहुत कम स्थलों पर चित्रित हुआ है। वैसे जहाँ-जहाँ ऐसे स्थल आए हैं। कवि ने उपदेश रूप में प्रकृति के अनेक पदार्थों द्वारा अपने तात्त्विक सिद्धान्त प्रकट कराये हैं। यथा—

१. ‘पिब-पिब’ कर लाग पपीहा । तुही-तुही कर गडुरी जीहा ॥”

२. “जावत पंछी जगत के भरि बैठे अमराउ ।

आपनि-आपनि भाषा, लेहि दई कर नाऊ ॥”

कही-कहीं दृष्टांत की व्यंजना भी मिलती है :—

३. “मुहम्मद बाजी प्रेम की ज्यों भावें त्यों खेल ।

तिल फूलहि के संग ज्यों, होइ फुलाहल तेल ॥”

एक स्थान पर कवि लोभ को पाप की नदी बताते हुए लिखता है—

४. “लोभ पाप कै नदी अकोरा । सत न रहै हाथ जो बोरा ॥”

प्रतीकात्मक रूप

यह शैली बहुत कुछ ग्रंथों में रहस्यात्मक शैली के अन्तर्गत ही आ जाती है, किन्तु कहीं-कहीं इसका स्वतन्त्र चित्रण भी मिलता है। नीचे की पक्तियों में उस प्रियतम पुरुष के प्रेम से प्रकृति कैसी बिद्ध दिखाई दे रही है—

“उन बानन्ह अस को जो न मारा ? बेधि रहा सगरो ससारा ॥

गगन नखत जों जाहि न गने । वे सब बान ओहि के हने ॥

धरती बान बेधि सब राखी । साखी ठाढ़ देहि सब साखी ॥

रोब-रोब मानुस तन ठाढ़े । सूतहि सूत वेद अस गाढ़े ॥

वरुनि चाप अस ओपहं, बेधे रन बन ठाख ।

सौजहि तन सब रोआं, पंखहि तन सब पाख ॥”

प्रकृति की ये सभी वस्तुएं उस व्यापक ब्रह्म के प्रेम-वाणों के प्रतीक रूप में चित्रित हैं ।

सिंहलगढ़ को कवि ने परलोक का प्रतीक माना है । वहीं पर आतंकित होकर चन्द्र-सूर्य तथा नक्षत्र-तारे आदि परिभ्रमण करते हैं—

“बिजुरी चक्र फिरं चहुं फेरी । ओ जमकात फिरं जम केरी ॥

घाड़ जो बाजा के मन साधा । मारा चक्र भएउ दुइ आधा ॥

चाँब सुरुज ओ नखत तराई । तेहि डर अंतरिख फिरहि सवाई ॥”

वस्तु-परिगणन रूप

जायसी द्वारा चित्रित प्रकृति का यही रूप सर्वाधिक नीरस सिद्ध हुआ है । कवि को अपनी बहुज्ञता प्रदर्शन की धुन में वस्तुओं के नाम गिनाने के अतिरिक्त प्रकृति के सौन्दर्य की ओर देखने का ध्यान ही नहीं रह जाता । सिंहलद्वीप के वर्णन में परिगणन रूप का बाहुल्य है । यथा—

“फरे आँब अति सघन सोहाये । ओ जस फरे अधिक सिरनाए ॥

कटहर डार पींड सन पाके । बड़हर, सो अनूप अति ताके ॥

खिरनी पाकि खाँड़ अस मीठी । जामुन पाकि भँवर अति डीठी ॥

नरियर फरे, फरी फरहरी । फुरें जानु इन्द्रासन पुरी ॥

पुनि महुवा चुअ अधिक मिठासू । मधु जस मीठ, पुहुप जस बासू ॥

ओर खजहजा अनबन नाऊं । देखा सब राउन अमराऊं ॥

सबंग, सुपारी, जायफल, सब फर फरे अपूर ।

आस पास घन इमिली, ओ घन तार खजूर ॥”

तथा

“आस पास बहु अमृत बारी । फरी अपूर होइ रखबारी ॥

नारंग नीबू सुरंग जंभीरा । ओ बाबाम बहु भेब अंजीरा ॥

गलगल तुरंज सबाफर फरे । नारग अति राते रस भरे ॥
 किसमिस सेव फरे नौ पाता । दारिउ बाख देखि मन राता ॥
 लागि सुहाई हार फर्योरी । उन रही केरा कै घोरी ॥
 फरे तूत कमरख औ न्योजी । राव करौबां बर चिरौजी ॥
 संगतरा व छुहारा दीठे । और खजहजा खारे मीठे ॥

पानि देहि खंडवानी, कुवहि खाइ बहुमेल ।

लागी घरी रहट कै, सौंचहि अमृत बेल ॥”

इसी प्रकार के अनेक स्थल जायसी के काव्य में भरे पड़े हैं जिन्होंने उनके साहित्य की मनोहरता और सरलता में विशेष विघ्न उत्पन्न किया है और कहीं-कहीं तो इससे कथाक्रम में भी व्याघात पहुँचा है । यह वर्णन बड़ा ही नीरस बन पड़ा है ।

स्वतन्त्र रूप

वस्तु-परिगणन की तृष्णा ने कवि को प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण में भी लगभग प्रवृत्त ही रखा है । उस क्रम में कवि प्रकृति के सौन्दर्यशाली रूप को जैसे भुला बैठा हो । कुछ थोड़े से स्थल ऐसे अवश्य हैं जहाँ कवि अपनी परिगणन शैली का चित्रण करते हुए सहसा भावुक हो उठा है । ऐसे क्षणों में उसकी लेखनी से प्रकृति के स्वतन्त्र सौन्दर्य का भी कुछ उद्घाटन हो गया है, किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसे स्थल बहुत कम हैं । उदाहरण के लिए मानसरोवरक सरोवर का यह दृश्य देखिए—

“मानसरोवरक बरनों कहा । भरा समुद्र अस प्रति अवगाहा ॥

पानि मोति अस निरमल तासू । अमृत आनि कपूर सुवासू ॥

लंक दीप कै सिला अनाई । बाधा सखर घाट बनाई ॥

खण्ड-खण्ड सीढ़ी भई गरेरी । उतरहि चढ़हि लोग चहुँ फेरी ॥

फूला कमल रहा होइ राता । सहस सहस पंखुरिन कर छाता ॥

उलथहि सोप, मोति उतराहीं । चर्गाहि हंस, औ केलि कराहीं ॥”

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जायसी के प्रकृति-चित्रण में विभिन्न शैलियों का समावेश अवश्य है, किन्तु उसमें प्रकृति का वह स्वतन्त्र एवं भव्य सौन्दर्यशाली रूप नहीं उद्घाटित हो सका है जिसकी हम जायसी जैसे महाकवि से अपेक्षा करते हैं । कवि की दृष्टि अपने आध्यात्मिक सौन्दर्य को ढूँढने में इतनी व्यस्त है कि उसे प्रकृति के स्वतन्त्र सौन्दर्य की ओर देखने का अवकाश ही नहीं मिल सका । चित्तौड़ से सिहलगढ़ तक का विस्तृत प्रदेश प्रकृति के सौन्दर्य का आगार था, किन्तु कवि उस विशद-सौन्दर्य को अपनी कल्पना में आत्मसात् करने

में समर्थ नहीं हो सका । उसने मनुष्य के आनन्द या दुःख के रंग में रंगी हुई प्रकृति को ही देखा । कवि के ऐसे वर्णनों में तात्त्विक विवेचन को प्रमुख और प्रकृति को द्वितीय स्थान मिला, जिससे उसके काव्य में वह मधुरता, सरलता और मनोहारिणी छवि न आ सकी जो प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण से आती है ।

इतना सब कुछ होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि कवि की आँखें प्रकृति सौंदर्य की ओर से एक-दम विमुख रही हैं । प्रकृति ही तो उसके प्रियतम की अनन्त छवि का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती है । फिर वह कवि द्वारा उपेक्षित कैसे हो सकती थी ? मनुष्य के सुख-दुःख के साथ कवि ने प्रकृति का जो सौन्दर्य उपस्थित किया है वह बड़ा ही आकर्षक बन पड़ा है । प्रकृति के माध्यम से उस अलौकिक दिव्य-सौंदर्य की जो भाँकी उसने प्रस्तुत की है, वह प्रशंसनीय है । प्रेम और प्रकृति को एक रंग में रंग कर कवि ने अपने काव्य में नया ही आकर्षण उत्पन्न किया है और यही उसके प्रकृति-चित्रण की विशेषता है

वस्तुतः जायसी की रचनाओं में प्रकृति की बड़ी ही मनोहारिणी भाँकी देखने को मिलती है ।



जायसी के दार्शनिक विचार

सूफियों के अनुसार अनादि अनन्त स्वरूप ब्रह्म एक है। अखिल सृष्टि उसी ब्रह्म की क्रीड़ा है। सृष्टि के विविध रूपों में वही भासमान हो रहा है। वह सौन्दर्य का प्रकाश पुञ्ज है, जिसके परिणामस्वरूप उसे स्वयं से ही प्रेम हो गया। उस महान् आत्मसौन्दर्य के अवलोकनार्थ उसने अपने को सृष्टि के नाना रूपों में बिखेर दिया। जीव उसी का ग्रंथ है, किन्तु प्रपंच में पड़ा रहने के कारण भेद-वृत्ति से युक्त हो गया है। वह अपने पूर्व स्वरूप को भूल चुका है और अहमन्यतावश विश्व के प्रपंच में लिप्त रहता है।

चार अवस्थाएँ एवं सात कयाम

इस प्रपंच से मुक्त होने के लिए साधक को साधना-पथ का अनुगमन करना पड़ता है, जिस पर वह क्रमशः शरीयत, तरीकत और मारिफत तथा हकीकत अवस्थाओं को प्राप्त होता है। जायसी ने इन्हें भी 'चार बसेरे' कहा है—

‘चार बसेरे जो चढ़े सत सों उतरे पार ।’

इसके साथ ही साथ अन्तर्यामा भी होती है जिसमें सात कयाम होते हैं। वे सात कयाम और कुछ नहीं सात स्थितियाँ ही हैं। तदनन्तर साधक ब्रह्मरंध्र में ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इस कार्य में उसे 'योग' से भी पर्याप्त सहायता लेनी पड़ती है। योग का समावेश भारतीय सूफीमत की अपनी विशेषता है बाह्य सूफीमत में ऐसा नहीं है। उक्त चारों अवस्थाओं और सातों कयामों का अब विधिवत् विश्लेषण अनिवार्य है।

शरीयत—यह सूफी साधक की प्रथमावस्था है। इस अवस्था में उसमें और एक सामान्य मुसलमान में कोई अन्तर नहीं होता। दोनों शरअ के अनुसार आचार-व्यवहार करते हैं। हाँ, परिणाम में अवश्य अन्तर है और वह यह है कि मुसलमान के लिए शरीयत ध्येय है, परन्तु सूफी इसके विपरीत आगे बढ़ता है। यदि वह इसके आगे न बढ़े तो सूफी ही नहीं कहा जायगा। इस अवस्था में तो उसे मोमिन की संज्ञा मिली रहती है। मोमिन को शरीयत की मंजिल पार करने में कुछ मुकामात से गुजरना पड़ता है जिसके नाम इस प्रकार हैं—तोबा, जहद, सब्र, शुक्र, रिजाअ, खौफ,

तवक्कुल, रजा, फिक्र और मोहब्बत। सर्वप्रथम मोमिन (अर्थात् अल्लाह के प्यारे) को उन बातों का त्याग तथा पश्चाताप करना पड़ता है जो अल्लाह के रास्ते में बाधक हैं। इन्हें 'तोबा' कहा जाता है। उसे इन बाधाओं से लड़ना पड़ता है जो 'जहद' कहलाती है। प्रयत्न में सफल होने पर उसे 'सब्र' का सहारा लेना पड़ता है नहीं तो उसमें 'अहं' के उदय हो जाने की संभावना रहती है। अह साधना का विनाशक है। भुलावा देने के लिए शतान दैव तैयार रहता है इस नाते मोमिन को काफी सतर्क रहना पड़ता है इसलिए अपनी सफलता में उसे अल्लाह का 'शुक्र' मानना पड़ता है। ईश्वर के आदेश पर चलना 'रजाअ' उससे भयभीत रहना 'खौफ' जीविका के लिए इधर-उधर न भटकना 'तवक्कुल' तथा तटस्थ होकर ईश्वर का ध्यान करना 'रजा' है। इस प्रकार निरन्तर साधना 'फिक्र' से उसमें अल्लाह की मोहब्बत का जन्म होता है 'मोहब्बत' की मंजिल पर पहुँचकर मोमिन सूफी (मानिक) बन जाता है और फिर तरीकत में प्रवेश करता है।

तरीकतः—वस्तुतः यह 'सूफी' की प्रथम और 'साधक' की द्वितीयावस्था है। इस समय मोमिन माधक (सालिक) बन जाता है और उसे किसी भेदिये की आवश्यकता पड़ती है। वह भेदिया मुरशिद अर्थात् गुरु होना है जो उसे तरीकत के रहस्यों का परिचय कराता है। पीर या मुरशिद अपने मुरीद (शिष्य) की भगवान् के प्रति सच्ची लगन देखकर उसमें प्रेम की चिनगारी डाल देता है। अब चले का यह काम होता है कि वह उस चिनगी को सुलगा ले—

“गुरु विरह चिनगी जो मेला । जो सुलगाई लेइ सो चेला ।”

—जायसी

पीर अपने मुरीद की प्रत्येक कमजोरी को भली-भाँति जानता है, इसलिए वह उसमें ऐसे भाव भरता है जिससे शिष्य को अपने लक्ष्य की दिशा में गति मिले।

पीर की अनुकम्पा, दया, दाक्षिण्य तथा अपनी सच्ची लगन के सहारे इस द्वितीयावस्था को पार कर माधक तीसरी अवस्था में प्रवेश करता है।

मारिफतः—यह ज्ञानावस्था है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मुरीद, परम सत्ता के आभास के साथ-साथ उसके रहस्यों की कुँजी भी प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को 'हाल' की दशा भी कहा जाता है। सूफी की संज्ञा 'सालिक' से अब 'आशिफ' हो जाती है।

यह अवस्था ईश्वरीयकृपा का प्रसाद है। “अतः बिना शरीयत और तरीकत के व्याकरण के भी सम्पन्न हो सकता है।”^१ इस अवस्था के उपरान्त ही साधक हकीकत में प्रवेश करता है।

हकीकत:—इस अवस्था तक आते-आते साधना में पूर्णता आ जाती है। यह अन्तिम अवस्था है। इसमें साधक 'अनलहक' का उद्घोष करता है। परमसत्ता का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर साधक ब्रह्ममय हो जाता है। यही फना की स्थिति है। इस अवस्था को 'मकाम' भी कहा जाता है। ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकरूपता से भी ऊपर साक्षात्कार का आनन्द प्राप्त करके मनुष्य पूर्ण बन जाता है। उसकी आत्मा ईश्वर में निवास करती है। यही सूफी का चरम लक्ष्य 'वका' है। 'फना' और 'वका' में अन्तर इतना है कि 'फना' में साधक का 'अहंभाव' तिरोहित हो जाता है और तब वह सब प्रकार के द्वन्द्वों से मुक्त होकर प्रियतम में लय हो जाता है जिसे 'वका' की स्थिति कहते हैं।

चार लोक

सूफियों ने उपर्युक्त चारों अवस्थाओं के साथ-साथ चार लोको की भी कल्पना की है जो नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत की संज्ञा पाते हैं। डा० जयदेव के शब्दों में —

“साधारण धार्मिक मुसलमान (मोमिन) प्रथमावस्था में शरीयत का पालन करते हुए नासूत (नरलोक) का सेवन करता है, द्वितीयावस्था में मुरीद 'तरीकत' पर विचरण करता हुआ मलकूत (देवलोक) का निवासी बनता है। तत्पश्चात् 'सालिक' तुरीयावस्था (मारिफत) में जबरूत (ऐश्वर्य लोक) में विहार करता है अन्त में 'आरिफ' 'हकीकत' अवस्था में लाहूत (सत्यलोक किंवा माधुर्य लोक) में विचरण करता है।”

सात मुकामात

सूफियों के निम्नलिखित सात मुकामात बताये जाते हैं —

- | | |
|--------------------------------|-----------|
| १—अबूदिया (यह मोमिन के लिए है) | २—इश्क |
| ३—जहद | ४—म्बारिफ |
| ५—वज्द | ६—हकीकी |
| ७—वसल | |

जायसी ने सूफियों के सात ही मुकामात माने हैं और उनका संकेत 'पद्मावत' तथा 'अम्बरावट' दोनों में किया है।

डा० जयदेव के अनुसार — “आविब (खोजी) शरीयत की मंजिल में 'तोबा' आविब पड़ावों को पार करके 'इश्क' के मुकाम पर प्रथम मंजिल समाप्त कर देता है। इसके पश्चात् इश्क को लेकर 'सालिम' जहद करते हुए तरीकत की दूसरी मंजिल को 'म्बारिफ' मुकाम पर पूर्ण करता है। अब 'म्बारिफ' के पार आरिफ वज्द प्राप्त करता हुआ 'हकीक' के मुकाम पर तृतीय मंजिल समाप्त करता है।

तबुपरान्त 'हक' वस्ल को प्राप्त कर 'फना' के मुकाम पर अपनी यात्रा समाप्त कर देता है। इस यात्रा के समाप्त होने पर उसे शाश्वत आनन्द (वका) की प्राप्ति हो जाती है जो सूफियों का ध्येय है।^{१११}

इस यात्रा का विवरण निम्नांकित चार्ट से कुछ अधिक सरलता से समझा जा सकता है:—

क्रम संख्या	अवस्था	लोक	यात्रा की संज्ञा	मुकामान्त		
				प्रारम्भ	मध्य	अन्त
१	शरीयत	नासून	मोमिन	अब्द	—	इश्क
२	तरीकत	मलकूत	मालिक	इश्क	जहद	म्बारिफ
३	मारिफत	जबरून	आरिफ	म्बारिफ	वज्द	हकीक
४	हकीकत	लाहू	हक	हकीक	वस्ल	फना

कुछ लोग अंतिम अवस्था 'वका' मानते हैं, जो फना के पश्चात् प्राप्त होती है और अन्तिम लोक 'लाहूत' बताते हैं।

जायसी की दार्शनिकता

जायसी उच्च कोटी के सूफी साधक थे। सभी सूफी साधकों का यह प्रमुख कर्तव्य होता है कि वे अपने धर्म का प्रचार करें। इसी नाते सूफी प्रेम गाथाकारों ने अपने काव्यों के माध्यम से सूफी धर्म का प्रचार कार्य सम्पन्न किया है; फिर सर्व-श्रेष्ठ हिन्दी सूफी प्रेम गाथाकार जायसी ही इस कथन के अपवाद कैसे हो सकते थे। जायसी के काव्य में सूफीमत के समाविष्ट होने के कौशल के लिए डा० रामकुमार वर्मा ने ठीक ही कहा है कि “समस्त कथा में सूफी सिद्धान्त बाबल में पानी की बूँद की भाँति छिपे हुए हैं।”^{११२} सूफियों की नीति उदार होती है। इस्लाम की कट्टरता से उन्हें चिढ़ है। जीवन की स्वच्छ, सरल और पवित्र उदात्त वृत्तियों को वे विशेष प्रश्रय देते हैं, मानवता के विकास मार्ग पर जोर देते हैं। पारस्परिक उच्छृंखल स्वार्थी वृत्ति से परे व्यक्ति को ऊँचा उठाने की बात करते हैं। शाश्वत सत्य की व्याख्या करते हैं, आध्यात्मिक प्रेम का वह महामंत्र देते हैं जिसके सहारे पतनोन्मुख मानव पारलौकिक सुख की प्राप्ति कर सके। परम प्रियतम का अंश जीवात्मा उसमें लीन हो कर अखंड आनन्दमय हो जाय। सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाय। प्रेम, जो मानव-जीवन का चरम-बिन्दु है, इन सूफी कवियों की कविता का प्राण है। जायसी के काव्य में ये समस्त विशेषताएँ अपनी प्रबल शक्ति के साथ विद्यमान हैं।

१. महाकवि जायसी—डा० जयदेव

२. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

जायसी ने सूफी साधना का बड़ा विस्तृत और गूढ़ तथा व्यापक वर्णन किया है। 'आखिरी कलाम' तो उनके इस्लामी विचारों का प्रतिनिधित्व ही करता है। 'अख-रावट' में वे इस बात की स्पष्ट घोषणा करते हैं कि विधिना के पास पहुँचने के तो तन-रोआँ और आकाश के नक्षत्रों की भाँति अगणित मार्ग हैं, किन्तु उनमें से मुहम्मद साहब द्वारा प्रदर्शित मार्ग ही सर्वोत्तम है। इस प्रकार अपने धर्म के प्रति वे गहरी निष्ठा व्यक्त करते हैं। 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' दोनों में उनके इस्लामी स्वरूप का प्रकटीकरण है; और 'पद्मावत' का तो कहना ही क्या? वह तो उनकी समस्त साधनाका प्रशस्त पथ-निर्माण ही है जिसके प्रति हिन्दू जनता को आकृष्ट करके वे उसे उसकी अनुगामिनी बनाना चाहते हैं। उन्हें हिन्दुओं का सहज विश्वास तो प्राप्त था; पर विधि की कुछ ऐसी मरजी थी कि जायसी को इस दिशा में मनचाही सफलता न मिल सकी। इसमें सन्देह नहीं कि अपने सूफी धर्म को उन्होंने अपने काव्य में बड़े कौशल से पिरोया है। काव्य की मनोहरता में वे सिद्धान्त वैसे ही घुल-मिल गये हैं जैसे बादलों की सघन घटा में बिजली।

अपनी काव्योपासना के साथ साथ सूफी धर्म साधना एवं उसके प्रसार की बात वे नहीं भूल सके हैं उसके प्रति उनका संस्कारगत मोह है जिसे उनसे अलग भी नहीं किया जा सकता। श्री यज्ञदत्त शर्मा के शब्दों में—“महाकवि जायसी मुसलमानी अवस्थाओं में विश्वास रखने वाले सूफी मुसलमान थे और अपनी ही मान्यता का विचार उन्होंने किया है। मुसलमान धर्म के प्रवर्तकों में उनका पूर्ण विश्वास था और उनकी मान्यताओं तथा पाबन्दियों की रूढ़ियों का उन पर असर था। वह एक सूफी मुसलमान थे और मुसलमानी दर्शन के प्रति ही उनकी मान्यता थी।”^१ सूफी साधना जायसी के जीवन का प्रधान लक्ष्य था और उसकी सिद्धि में जीवन पर्यन्त वे लगे भी रहे। 'पद्मावत' में सम्पूर्ण कथा कह जाने के उपरांत उन्हें यह आशंका बनी रही कि कहीं हमारी यह प्रेम-कहानी दूसरे ढंग से न विचार ली जाय, इसलिये उपसंहार में (जो मसनवी शैली के अन्तर्गत देने की मजबूरी भी थी) उन्होंने अपना मंतव्य स्पष्ट कह सुनाया—

“मैं एहि प्रथ पंडितन्ह बूझा । कहा कि हम कुछ और न सूझा ॥
चौबह भुवन जे तर उपराहीं । ते सब मानुष के घट माहीं ॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा । हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा ॥
गुरु सुग्रा जेइ पथ दिखावा । बिना गुरु को निरगुन पावा ॥
नागमती यह बुनिया-बंधा । बाँचा सोइ न एहि चित बंधा ॥
राघव बूत सोइ सैतान् । माया अलाउबीन सुलतान् ॥
प्रेम कथा ऐहि भाँति विचारहु । बूझि लेहु जौ बूझै पारहु ॥”

अपने उत्तर का अन्तिम निष्कर्ष देने से पूर्व हम दो एक स्थल ऐसे और उपस्थित कर देना आवश्यक समझते हैं जिनके द्वारा उनकी सूफी साधना अधिक मुखर हो सकी है।

यह सूर्य की भाँति सबके सामने है कि सूफी साधना का केन्द्र बिन्दु प्रेम है। इसी प्रेम की प्रशस्ति में जायसी ने बहुत कुछ लिखा है—

“भलेहि प्रेम है कठिन सुहेला । दुइ जग तरा प्रेम जेइ खेला ॥”

किन्तु शिष्य के अन्दर इस प्रेम ज्योति को जगा देना गुरु का ही कार्य है। यह विरह की एक चिनगारी डालता है, शिष्य उसी चिनगारी को अपने में सुलगता है—

“गुरु विरह चिनगी जो मेला । जो सुलगाई लेइ सो चेला ॥”

अथवा

“सबद एक उन कहा अकेला । गुरु जस भूग फनिग जस चेला ॥

भृङ्गी ओहि पाँखि पं लेई । एकहि बार छीनि जिउ देई ॥”

जायसी का कहना है कि शुद्ध साधना के लिए पहले यह को दूर करो, अपने को मिटा दो—

“जब लगि गुरु हो अहा, न चीन्हा । कोटि अन्तर पट बीचहि दीन्हा ॥

जब चीन्हा तब और न कोई । तन मन जिउ जीवन सब सोई ॥

हों हों करत धोख इतराई । जब भा सिद्ध कहाँ इतराहीं ॥”

जो इस प्रकार उठकर अपने प्रियतम में लय हो जाता है वह धन्य है। जायसी का कहना है कि प्रियतम के पास जो पहुँच गया उसे फिर इस मायावी विश्व में नौटने की आवश्यकता नहीं रहती। उस आनन्द-लोक की महिमा ही न्यायी है।

जब राजा रत्नमेन दिल्ली में कैद हो गये तब रानी पद्मावती का विलाप कुछ इसी प्रकार के भावों को ध्वनित करता है—

“सो दिल्ली अब निबहुर देसू । केहि पूछहुं, को कहै सबेसू ॥

जो कोइ जाइ तहां करि होई । जो आवै किछु जान न सोई ॥

अगम पथ पिय तहाँ सिधावा । जो रे गएउ सो बहुरि न आवा ॥”

नागपंथ और हठयोग का प्रभाव

जायसी पर नाथपंथ और हठयोग का पूरा-पूरा प्रभाव था। सिंहलगढ़ के शरण में अनेक उदाहरण ऐसे मिलेंगे। गढ़ को शरीर का रूपक देकर हठयोग साधना का कैसा सुन्दर चित्र उन्होंने खींचा है, इसे नीचे की पंक्तियों में देखिए—

“गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया । पुरुष देखि ओही कं छाया ॥

नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा । ओ तहें फिर पाँच कोतवारा ॥

बसबैं द्वार गुप्त एक तारा । अगम चढ़ाव बाँक सो बाँका ॥

भेद जाइ सोइ वह घाटी । जो लहि भेद चढ़ होइ चाँटी ॥
गढ़तर कुंड, सुरंग तेहि माँहा । तहँ वह पंथ कहों तोहि पाँहा ॥
जस मरजीया समुद घँसि, हाथ आव तब सीप ।
दूँढि लेहि जो सरग दुआरि, चढ़ै सो सिंहलदीप ॥”

तथा—

“नवो खंड नव पौरी, औ तहँ वज्र किवार ॥
चारि बसेरे जो चढ़े, सत सो उतरै पार ॥

पर यहाँ हम एक बात का उल्लेख और कर देना चाहते हैं कि ‘पद्मावत’ के अधिकांश स्थलों में इस आध्यात्मिक या सूफी मत के अनुकूल अर्थ ध्वनित नहीं हुए हैं। कुछ थोड़े से स्थल ही हैं जहाँ कवि की यह साधना अधिक वेग से मुखरित हुई है। अनेक स्थलों पर तो वर्णन इतना स्थूल हो गया है कि आध्यात्मिक अर्थ की खींचतान करना कवित्व की हत्या करना प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए बादल की नवागता वधू का यह कथन देखिए—

जो तुम चहुहु जुझि पिउ ! बाजा । कीन्ह सिंगार-जूझ मैं साजा ॥
जोबन आइ सौँह होइ रोपा । बिखरा विरह कामदल कोपा ॥
भौहें धनुष नैन सर साधे । काजर पनच, वरुनि विष बांधे ॥
अलक-फांस गिउ मेलि असूझा । अधर-अधर सौँ चाहिँह जूझा ॥
कुम्भ स्थल कुच दोउ मेमंता । पेलौँ सौँह, सँभारहु कंता ॥”

कौन भारतीय वधू इतनी निर्लज्ज हो जायगी कि प्रथम समागम के अवसर पर अपने पति से इस प्रकार प्रलाप करेगी। वर्णन को पढ़कर मन घृणा और क्षोभ से भर जाता है। पद्मावती-रत्नसेन का मिलन देखिये—

“लोन्ह लंक, कंचन-गढ़ दूटा । कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा ॥
औ जोबन मेमंत विधाँसा । विचला विरह जीव जो नासा ॥
दूटे अग अग सब भेसा । छूटी माँग, भंग भए केसा ॥
कंचुकि चूर, चूर भइ तानी । दूटे हार मोति छहरानी ॥
वारी, टाँण सलोनी दूटी । बाहु कंगन कलाई फूटी ॥
चंबन अंग छूट अस भेंटी । वेसरि दूटि तिलक गा भेटी ॥

पुहुप सिंगार सवार सब, जोबन नवल बसंत ।

अरगज जियि हिय लाइ कै मरगज कीन्हैउ कंत ॥”

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वर्णन घोर पार्थिव है। लौकिक प्रेम के माध्यम से कवि यहाँ अलौकिक सूफी प्रेम का आभास नहीं दे पाया है।

ऐसे ही ग्रन्थ में अनेक स्थल हैं जिन्हें उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। वहाँ पर कवि केवल काव्यात्मक वर्णन करता चलता है। उसका यह वेग

अपेक्षाकृत सूफी सिद्धान्तों का प्रचार करने के, अधिक प्रखर है ।

इससे यह पता चलता है कि कवि की काव्य-धारा के प्रवाह को उसके ये सूफी सिद्धान्त नहीं रोक सके हैं । वह जिधर जाना चाहती है स्वेच्छा से उधर ही बहती गई है । तात्पर्य यह है कि कवि की कला के विकास में सूफी मत मनचाहा अवरोध नहीं बन सका है ।

निष्कर्ष

अब हम निष्कर्ष रूप में यह कहेंगे कि कवि की कला में साहित्य-संवर्द्धन-स्वाभाविक, प्रबल तथा सशक्त वेग से हुआ है, किन्तु साथ ही जायसी अपने जीवन की मूल साधना-सूफीमत को भी नहीं भूल सके हैं । अपने काव्य में उसका संगुंफन भी उन्होंने बड़ी चतुरता से किया है । पक्का मुसलमान होने के नाते अपने धर्म की विशद विवेचना तथा उसके प्रचार व प्रसार का उनका यह प्रयत्न बिल्कुल स्वाभाविक ही था ।



ओही छाज छात ओ पाह । सब राजा भुईं धरहिं लिलाह ॥
जाति सूर ओ खांडह सूर । ओ बुधिवंत सबह गुन पूरा ॥
सूर नवाई तबइ खंड भई । सातउ दीप दुनी सब नई ॥
तंह लगि राज खरग बर लीन्हा । इसकंदर जुल करां जो कीन्हा ॥
हाथ सुलेमां केरि अंगूठी । जग कह जिअन दीन्ह तेहि मूठी ॥
ओ अति गुरु पुहुमि मति भारी । टेक पुहुमि सब सिष्टि संभारी ॥

दीन्ह असीस मुहम्मद, करहु जुगहिं जुग राज ।

पातसाहि तुम जग के डग तुम्हार मुहताज ॥”

—(स्तुति खंड)

शाहे वक्त शेरशाह के वर्णन के पश्चात् कवि अपने गुरु का स्मरण करता है जिसने कि उसे पंथ सुभाया । बिना गुरु के कोई उसकी दृष्टि में परम प्रियतम को प्राप्त ही नहीं कर सकता । इस नाते कवि ने गुरु का बड़ा विद्वतापूर्ण वर्णन किया है—

“संयद असरफ पीर पियारा । तिन्ह मोहि पंथ दीन्ह उजियारा ॥
लेसा हिए प्रेम कर दीया । उठी जोति भा निरमल होया ॥
मारग हुत अंधियार असुभा । भा अन्जोर सब जाना बूभा ॥
खार समुद्र पाप मोर मेला । बोहित धरम लीन्ह कइ चेला ॥
उन्ह मोर करिअ पोढ़ कर गाहा । पाएउ तीर घाट जो अहा ॥
जा कह अइस मोहि कइहारा । तुरति बेगि सो पावइ पारा ॥
वस्तगीर गाढ़े के साथी । जंह अवगाह देहि तंह हाथी ॥

जहांगीर ओइ चिस्ती, निहकलंक जस चाँद ।

ओइ मखदूम जगत के, हौं उनके घर बाँद ॥”

—(स्तुति खंड)

आगे चलकर कवि ने शेख मुहीउद्दीन के प्रति भी गुरुवत् श्रद्धा का प्रदर्शन किया है—

“गुरु मोहवी खेवक मैं सेवा । चलै उताइल जिनकर खेवा ॥

उन्ह सौ मैं पाई जब करनी । उधरी जीभ प्रेम कवि करनी ॥

ओइ सो गुरु हौं चेला, नित दिनवौं भा चेर ।

उन्ह हुति बेखइ पावौं, बरस गोसाईं केर ॥”

—(स्तुति खंड)

गुरुओं की चर्चा करने के उपरान्त कवि ने अपना परिचय दिया है । इस वर्णन में सर्वप्रथम उसका ध्यान अपनी कुरूपता की ओर ही गया है । वर्णन में गर्वोक्ति है—

“एक नैन कवि मुहम्मद गुनी । सोइ विमोहा जेइ कवि सुनी ॥
 चांद जइस जग बिधि ओतारा । दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा ॥
 जग सूझा एकइ नैनाहीं । उम्रा सूक अस नखतन्ह माँहा ॥
 जो लहि अम्बहि ठाभ न होई । तौ लहि सुगन्ध बसाइ न सोई ॥
 कीन्ह समुद्र पानि जो खारा । तौ अति भएहुं असूझ अपारा ॥
 जो सुमेरु तिरसूल बिनासा । भा कंचन गिरि लाग अकासा ॥
 जो लंहि घरी कलंक न परा । कांच होइ नहि कंचन करा ॥

एक नैन जस दरपत, औ तेहि निरमल भाउ ॥

सब रूपवंत पांव गहि, मुख जोवहि कहि चाउ ॥”

—(स्तुति खंड)

अपना परिचय देने के पश्चात् कवि ने चारों मित्रों का वर्णन किया है । अपना निवास स्थान बताया है और फिर खण्ड के अन्त में कथा का सार संक्षेप में कह दिया है—

—(स्तुति खंड)

“सन नव सै (सत्ताइस) संतालिस अहा । कथा आरम्भ बैन कवि कहा ॥
 सिंहलबीष पदमिनी रानी । रतनसेन चितउर गढ़ आनी ॥
 अलाउदीन दिल्ली सुलतानू । राघौ चेतन कीन्ह बखानू ॥
 सुना साहि गढ़ छंका आई । हिन्दू तुरुक्कहि भई तराई ॥
 आदि अन्त जसि कथा अहै । लिखि भाखा चौपाई कहै ॥
 कवि बिआस रस कौला पूरी । दूरिहि नियर-नियर भा दूरी ॥
 नियरहि दूरि फुल संग काँटा । दूरि जो निअर जस गुरू चाँटा ॥
 भँवर आइ वनखड हृति, लेहि कंवल कै बास ।
 दादुर बास न हावहि, भलेहि जो आछहि पास ॥”

विभाजन—पञ्चावत का विभाजन कवि ने सर्गों में न करके खण्डों में किया है । ग्रंथ में ५८ खण्ड है । प्रत्येक खण्ड का नाम वर्ण्य विषय के आधार पर है ।

उपसंहार—ग्रंथ का अन्तिम खण्ड ‘उपसंहार’ शीर्षक से विभूषित है । इस खण्ड में कवि ने अपनी सारी कथा के वास्तविक मर्म व अर्थ की ओर संकेत किया है और बताया है कि उसने यह कथा क्यों तथा किस प्रकार लिखी—

“में एहि अरथ पंडितन्ह बूझा । कहा कि हम किछु और न सूझा ॥
 सोदह भुवन जे तर उपराहीं । ते सब मानुष के घट माहीं ॥
 तन चितउर मन राजा कीन्हा । हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा ॥
 गुरु सुभा जेइ पंथ बिखावा । बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥

नागमती यह दुनिया धंधा । बाँधा सोइ न एहि चित बंधा ॥
 राघव दूत सोइ संतानू । माया अलाउदीन सुलतानू ॥
 प्रेम-कथा एहि भाँति विचारहु । बूझि लेउ जो बूझं पारहु ॥
 तुरकी अरबी हिन्दुई, भाषा जेती आहि ।
 जेहि महुँ मारग प्रेम कर, सबं सराहैं ताहि ॥”

तथा

“सुहमव कवि यह जोरि सुनावा । सुना सो पीर प्रेम करि पावा ॥
 जोरि लाइ रक्त कं लेइं । गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई ॥
 ओ मैं जानि गीत अस कीन्हा । मकु यह रहै जगत महुँ चीन्हा ॥
 कहाँ सो रतनसेन अब राजा । कहाँ सुआ अस बुधि उपराजा ॥
 कहाँ अलाउदीन सुलतानू । कहाँ राघव जेइ कीन्ह बखानू ॥
 कहाँ सुरप पद्मावती रानी । कोइ न रहा जग रही कहानी ॥
 धनि सोई जस कीरति जासू । फूल मरै पं मरै न बासू ॥
 केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीह जस मोल ।
 जो यह पढ़ै कहानी, हम सँवरे दुइ बोल ॥”

ग्रंथ की समाप्ति की तिथि का उल्लेख कवि ने नहीं किया, जिसके कारण विद्वानों को काफी सिर दर्द है ।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से हम इस परिणाम पर आते हैं कि पद्मावत के रचयिता ने उसे मसनवी शैली पर ही लिखा है । यद्यपि गहराई में जाने पर पद्मावत पूर्णतः उस शैली का काव्य नहीं ठहरता है, फिर भी अधिकांश लक्षण मिलते हैं । इस नाते हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि पद्मावत फारसी की मसनवी शैली का काव्य है । हाँ, इस सम्बन्ध में हमें इतना अवश्य याद रखना चाहिए कि पद्मावत हिन्दू घराने की कहानी है और उसका कवि मुसलमान होते हुए भी भारत की मिट्टी में जन्मा और पला है । इससे उस पर भारतीय राजनीति, आचार-व्यवहार तथा धर्म-संस्कृति आदि की भी छाप है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।



पद्मावत में रस-योजना

रस काव्य की आत्मा है। जिस काव्य में रस का परिपारक जितना होता है, वह उतना ही उत्तम कोटि का माना जाता है। पद्मावत जायसी का महाकाव्य है (अतः उसमें महाकाव्य के अनुकूल समस्त रसों का समावेश आवश्यक है, किन्तु कवि का प्रमुख ध्यान प्रेम-तत्त्व को शृंगारिक आवरण में व्यक्त करने की ओर ही अधिक रहा है) इसलिए अन्य रसों के चित्रण की ओर उसकी दृष्टि अपेक्षाकृत कम जा सकी है। वैसे इस में लगभग सभी रसों का समावेश है। अब हम कतिपय उद्धरणों द्वारा पद्मावत की रस योजना का विश्लेषण करेंगे।

शृंगार रस

शृंगार के दो पक्ष होते हैं। संयोग शृंगार और वियोग शृंगार। पद्मावत में शृंगार रस के इन दोनों पक्षों का सफल उद्घाटन किया गया है। हाँ, यह अवश्य है कि इन दोनों में प्रमुखता वियोग शृंगार की है। (इसी नाते पद्मावत को विरह काव्य भी कहा जाता है) वियोग शृंगार का जैसा भव्य उद्घाटन जायसी करने में समर्थ हुए हैं, वैसा संयोग शृंगार का नहीं।

संयोग शृंगार

इस शृंगार के विषय में इस ग्रंथ में हम अत्यन्त विस्तार से विचार कर चुके इसलिए यहाँ हम संकेतमात्र करेंगे।

पद्मावत में संयोग के केवल ये स्थल आते हैं—१. वसन्त खंड में, २. विवाह-खंड में, ३. पद्मावती-रत्नसेन भेंट खण्ड में, ४. षट्कृतु वर्णन में और ५. नागमती रत्नसेन भेंट के अवसर पर।

वसन्त खण्ड में—वसन्त खण्ड में पद्मावती के अपूर्व सौन्दर्य को देखते ही रत्नसेन मूर्च्छित हो जाता है। इस नाते संयोग का वह वातावरण ही विनष्ट हो जाता है जिसके बीच उसका परिपाक होता।

विवाह खण्ड—विवाह खण्ड में भी मिलन सुख की स्मृति मात्र से पद्मावती के अंग-अंग हुलसने लगते हैं—

“अंग अंग सब हुलसे, कोइ कतहं न समाइ।

ठाँवहि ठाँव बिमोही; गई मुरछा तनु आई॥”

परन्तु यहाँ नायक रत्नसेन के न होने से नायिका पक्ष में उन संचारियों का

समावेश नहीं हो सका जिनके माध्यम से स्थायीभाव रस अवस्था को प्राप्त होता । अतः शुद्ध रस की दृष्टि से यह स्थल भी अपने में सर्वांगीण रूप से पूर्ण नहीं कहा जा सकता । वैसे चित्रण बड़ा ही मनोहारी और आकर्षक है ।

पद्मावती-रत्नसेन-भेंट खण्ड में—पद्मावती-रत्नसेन-भेंट खण्ड में संयोग शृंगार का पूर्ण परिपाक हुआ है । नायक और नायिका जी खोल कर मिले हैं । बीच में अन्य कोई व्यवधान नहीं उपस्थित हो सका है जो रस विरोध उत्पन्न करता ।

षट्क्रतु वर्णन में—षट्क्रतु वर्णन पद्मावती के पक्ष में संयोग शृंगार का उद्दीपन बनकर आया है । वही ऋतुएं जो नागमती को पति-वियोग से दुःखितायिनी प्रतीत होनी हैं, पद्मावती के लिए मयोगावस्था में मुखप्रशायिनी हो जाती है ।

नागमती और रत्नसेन के बीच संयोग शृंगार का केवल एक स्थल आया है, जबकि रत्नसेन सिंहल से लौटकर नागमती के पास जाना है, किन्तु उस समय के वर्णन को भी हम पूर्ण संयोग नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें भी अगिच्छ नागमती द्वारा मान प्रदर्शन और सपत्नी पद्मावती के प्रति ईर्ष्याभाव ही व्याप्त हुआ है । कवि चाहता तो संयोग शृंगार का भव्य चित्रण कर सकता था, क्योंकि यहाँ उसके पास समस्त सामग्री थी, परन्तु न जाने क्यों उसने वैसा नहीं किया ।

वियोग शृंगार

पद्मावत में वियोग शृंगार भी नागमती-रत्नसेन और पद्मावती-रत्नसेन के आश्रय में चित्रित हुआ है । विशेषतः नागमती का वियोग-वर्णन तो कवि की लेखनी से अद्वितीय ही बन पड़ा है । नागमती के वियोग की व्यापकता, गम्भीरता और मार्मिकता बड़ी ही उत्कृष्ट कोटि की है । बारहमासे का वर्णन कवि ने विप्रलम्भ शृंगार के उद्दीपन के लिए किया है । यह बारहमासा उसके वियोग को उत्कर्ष प्रदान करता है । प्रत्येक मास की प्रकृति उसकी वियोगाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित करती है । संयोगावस्था के सभी चित्र उसे तीक्ष्ण बाण से लगते हैं । वह विरह-विदग्धा पंखहीन पंखों की भांति तडपती रहती है । उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता । वह बावली-सी जंगल में घूमने लगती है । उसे यही चिन्ता है कि किसी प्रकार उसके विरह की यह कथा उसके प्रियतम को मालूम हो जाय । उसे विश्वास है कि उसकी इस दशा को सुनते ही प्रियतम अवश्य लौट आयागा । इसीलिए वह बन के पक्षियों से अपनी यह व्यथा-कथा कहती है, किन्तु उसके शरीर से विरह की इतनी तेज लपटें निकल रही हैं कि—

“जेहि पंखी के नियर होई, कहै विरह के बात ।

सोइ पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात ॥”

वियोग का विस्तार जड़ चेतन सब में परिव्याप्त हो रहा है । विरह की मामिकता से प्रकृति भी दुखी है—

“तेहि दुख भए पलास निपाते । लोहू बूड़ि उठे होइ राते ॥
राते बिब भोजि तेहि लोहू । पखर पाक फाट हिय गोहूँ ॥”

वियोग-दशाएँ—कवि ने नागमती के विरह में वियोग की अनेक दशाओं का चित्रण किया है ।

कुछ चित्र देखिए—

उन्माद—“पिउ सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौरा हे काग ।

सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुंआ हम्ह लाग ॥”

अभिलाषा—“राति दिवस बस यह जिउ मोरे । लगौं निहोर कंत बस तोरे ।

प्रलाप—“हाड़ भये सब कींगरी, नसे भई सब तांति ।

रोंव-रोंव ते धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भांति ॥”

चिन्ता—“पुष्प नखत सिर ऊपर आवा । हौं बिनु नाह मन्दिर को छावा ?”

×

×

×

“बंध नाहि ओ कंध न कोई । बात न आव कहौं का रोई ॥

साठि नाठि, जग बात को पूछा । बिनु जिउ फिरें मूज तनु छछा ॥

भई दहेली टेक विहूनि । थाभ नाहि उठि सकें न थूनी ॥

कोरो कहा ठाट नव साजा । तुम बिनु कत न छाज न छाजा ॥”

इसी प्रकार अन्य कई दशाओं के चित्र स्पष्ट रूप में मिलते हैं । अब हम एक उद्धरण पद्यावती वियोग से देकर शृंगार रस का प्रसंग समाप्त करेंगे । लक्ष्मी समुद्र-खण्ड में पद्यावती जब रत्नसेन से बिछड़ जाती है, उस समय की उसकी दशा देखिए—

“खन चेतै, खन होइ बेकरारा । भा चदन चंदन सब छारा ॥

बाउर होइ परी पुनि पाटा । देहू बहाइ कंत जेहि घाटा ॥

को मोहि आगी देइ रचि होरी । जियत न बिछुरें सारस जोरी ॥”

इसी प्रकार रत्नसेन के मानस में भी विरह का संचार होता है —

“तपि कं पावा मिल कं फूला । पुनि तेहि खोइ सोइ पथ भूला ॥

कहूँ अस नारि जग उजियाराही । कहूँ अस जीवन कं सुख छाही ॥

कहूँ अस रहस भोग अब करना । ऐसे जिए चाह भल मरना ॥”

जायसी के हृदय की पीर नागमती के विरह वर्णन में उत्कर्ष के साथ व्यक्त हुई है । वियोग का सच्चा चित्र नागमती वियोग में ही मिलता है । फारसी प्रभाव से कहीं-कहीं बीभत्सता तथा अतिशयोक्ति से अस्वाभाविकता भी आ गई है, किन्तु उसकी

व्यापकता और मार्मिकता के सम्मुख ये दोष नगण्य हो जाते हैं। जायसी का विरह वर्णन परम्परायुक्त होते हुए भी मानसिक दशाओं तथा विभाव-अनुभाव से परिपूर्ण है जिससे रस परिपाक में पर्याप्त सहायता मिली है।

करुण रस

शृङ्गार के उपरान्त जायसी का कवि सर्वाधिक करुण रस में ही रमा है। करुण रस का प्रथम दृश्य वहाँ आता है, जब रत्नसेन जोगी होकर निकलने लगता है और उसकी माता तथा पत्नी आदि विलाप करती हुई समझाने का प्रयत्न करती हैं—

“रोवत माय न बहुरत बारा। रतन चला, घर भा अंधियारा ॥
बाउर मोर जो राजहि रता। सो लै चला सुआ परबता ॥
रोवहि रानी तजहि पराना। नोचहि बार, करहि खरिहाना ॥
चूरहि गिउ अमरन, उर-हारा। अब कापर हम करब सिगारा ॥
जाकहें कहहि रहसि कै पीऊ। सोइ चला, काकर यह जोऊ ॥
मरै चहहि पै मरै न पारहि। उठे आगि, सब लोग बुझावहि ॥”

×

×

×

“घरी एक सुठि भयउ अंदोरा। पुनि पाछे बीता होइ रोरा ॥
हूटे मन नौ मौती, फूटे मन बस कांच।

लोन्ह समेट सब अमरन, होइगा दुख कर नाच ॥”

दूसरा दृश्य वहाँ है जब पद्मावती सिंहल से विदा हो रही है—

‘रोवति मातु पिता औ भाई। कोउ न टेक जो कंत चलाई ॥
रोवहि सब नैहर सिंहला। लेइ बजाइ कै राजा चला ॥
तजा राज रावन का केहूं। छाँड़ा लंक विभीषन लेहू ॥
भरी सखी सब भेंटत फूरा। अंत कंत सौ भएउ गुरेरा ॥”

×

×

×

“कोउ काहू कर नाहि नियाना। माया मोह बाँधा अरुआना ॥

कंचन काया सो रानी, रहा न तोला मांसु।

कंत कसौटी घालि कै, चूरा गढ़े कि हांसु ॥”

×

×

×

“जब पहुँचाई फिरा सब कोऊ। चला साथ गुन अबगुन बीऊ ॥”

राजा रत्नसेन की मृत्यु पर भी कवि ने करुण परिस्थिति का दृश्य दिखाया है।

वात्सल्य

वात्सल्य रस का निरूपण वहाँ हुआ है, जहाँ रत्नसेन के योगी होकर निकलने

की सूचना पाकर उसकी माँ का हृदय पुत्र-प्रेम से विह्वल हो पड़ता है—

‘कैसे धूप सहब बिन छाँहा । कैसे नींव परिहि भुइ माँहाँ ॥
 कैसे ओढ़ब काथरि कंथा । कैसे पाँव चलब तुम पन्था ॥
 कैसे सहब खिनहि खिन भूखा । कैसे सहब कुरकुट रूखा ॥’
 ऐसे ही बादल की माँ बादल को युद्ध में जाने से रोकती है—
 “बादल केरि जसोवे माया । आह गहोसि बादल करि पाया ॥
 बादल राय ! मोर तुइ बारा । का जानसि कस होइ जुभारा ॥
 जहाँ बलपती बल मरहि, तहाँ तोर का काज ।
 आजु गवन तोर आवे, बैठि मानु सुख राज ॥”

इस प्रकार वात्सल्य के दृश्य पद्मावत में आये तो हैं पर वे हृदय में करुणा ही अधिक उत्पन्न करते हैं । ऐसा कोई भी पूर्ण वर्णन नहीं मिलता । जिससे माँ का हृदय पुलक उठे ।

भयानक और अद्भुत रस

इन रसों के वर्णन हमें सात समुद्र खण्ड में मिलते हैं—

“भा किलकिल अस उठे हिलोरा । जनु अकास दूटे चहँ ओरा ॥
 उठहि लहर परबत कं नाई । फिरि आवहि जोजन सौताई ॥
 धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा । सकल समुद्र जानहु भा ठाढ़ा ॥
 नीर होई तर ऊपर सोइ । माये रम्भ समुद्र जस सोइ ॥”

वीर रस

पद्मावत में वीर रस के चित्रण के मूल में दो बातें हैं—एक तो वीरगाथा-काल की परम्परा और दूसरे पद्मावत की कथा का ऐतिहासिक भुकाव । राजा रत्नसेन और राज गंधर्वसेन-युद्ध-वर्णन में, अलाउद्दीन के साथ युद्ध-वर्णन में तथा गोरा-बादल की वीरता के प्रसंग में ही वीर रस का प्रस्फुटन हुआ है । अलाउद्दीन के साथ वाले युद्ध में वीर रस का उत्कृष्ट स्वरूप सामने आता है—

‘ओनइ आइ दूनो बल साजे । हिन्दु तुरक दुवो रन गाजे ॥
 दुआँ समुद्र बधि उदधि अपारा । दूनो मेरु खिखिब पहारा ॥
 कोपि जुभार दुवो बिसी मेले । ओ हस्ती-हस्ती सहुँ पेले ॥
 आंकुस चमक बीजु अस बाजहि । गरजहि हस्ती मेघ जनु गाजहि ॥

धरती सरग एक भा, जूहहि ऊपर जूह ।

कोइ टरे न टारे, दूनो वज्र समूह ॥

हस्ती सहुँ हस्ती हठि गाजहि । जनु पवंत-पवंत सो बाजहि ॥”

×

×

×

“कोइ हस्ती असवारहि लेही । सूँड समेटि पाम तर देहीं ॥”

× × ×

“कोइ ममंत संभारहि नाहीं । तब जानहि जब गुद सिर जाहीं ॥

गगन रुहिर जस बरसै, धरती बहे मिलाइ ।

सिर घर टूटि बिलाहि तस, पानी पंक बिलाइ ॥”

इसी प्रकार युद्धोत्साह में गोरा कहता है—

“हों कहिए धौलागिरि गोरा । टरी न टारि, अग ना मोरा ॥

सोहिल जैस गगन उपराहीं । मेघ घटा मोहि देखि बिलाहीं ॥

सहसौ ससि सेस सम लेखों । सहसौ नैन इन्द्रसम देखों ॥”

× × ×

“होइ नल नील आजु हौ, देहँ समुंद मँह मेंड़ ।

कटक साह कर टेकों, होइ सुमेरु रन बेड़ ॥”

तात्पर्य यह है कि वीर रस के चित्रण में जायसी को पर्याप्त सफलता मिली है ।

वीभत्स रस

गोरा-बादल व अलाउद्दीन की मेला में युद्ध होते समय तथा नागमती के रुदन में, और पद्मावती की लाल उँगलियों के सौंदर्य-वर्णन आदि में हमें वीभत्स रस के दर्शन होते हैं । नागमती का रुदन देखिए—

‘गिरि-गिरि परै करत कै आँसू । विरह सरागन्ह भूजँ माँसू ॥”

इसी प्रकार पद्मावती की लाल उँगलियों के सौंदर्य वर्णन में देखिए—

‘हिया काढ़ि जनु लीन्हैस हाथा । रुहिर भरी अँगुरी तेहि साथा ॥”

रौद्र, शांत तथा त्रास्य रस

रौद्र रस का वर्णन उस समय आया है जब अलाउद्दीन का पत्र रत्नसेन को मिलता है । किन्तु गहराई में उतरने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ रस का परिपाक नहीं हो पाया है । केवल भाव-गात्र की सृष्टि हुई है ।

शांत रस के दृश्य यत्र-तत्र कई स्थानों पर आये हैं । जैसे-जीवन की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है :—

“मुहम्मद जीवन जल भरन, रहत घरी कै रीति ।

घरी जो आइ ज्यों भरी, ठरी जनम गा बीत ॥”

पद्मावत का अन्त शांत रस में ही हुआ है ।

“राती पिउ के नेह गई, सरग भएउ रतनार ।

जोरे उवा सो अथवा, रहा न कोई संसार ॥”

जहाँ तक हास्य रस का प्रश्न है, उसे पद्मावत में नगण्य स्थान मिला है। गम्भीर आध्यात्मिक भावों से भरे होने के कारण पद्मावत में हास्य का कोई उल्लेखनीय स्थल ही नहीं आया है।

निष्कर्ष — इस प्रकार हम देखते हैं कि पद्मावत में शृंगार, वीर और करुण रसों का ही परिपाक हुआ है, शेष रस पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त नहीं हुए। रसराज शृंगार का ही पद्मावत में प्रमुख स्थान है, यही इस महाकाव्य का अंगीरस है।



पद्मावत : एक अन्योक्ति

जायसी ने पद्मावत के अन्त में लिखा है :—

“तन चितउर मन रजा कीन्हा । हिय सिंहल बुध पवमिनि चीन्हा ॥
गुरु सुआ जेइ पंथ दिखावा । बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ॥
नागमती यह दुनियाँ धंधा । बाँचा सोइ न एहि चित बँधा ॥
राघव दूत सोइ संतानू । माया अलाउबीन सुलतानू ॥
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु । बूझि लेहु जो बूझै पारहु ॥”

अर्थात् तन रूपी चित्तौड़ का मनरूपी रत्नसेन राजा है । हृदय सिंहल है और पद्मनी ही प्रज्ञा अथवा ब्रह्म है जिसे प्राप्त करने के लिए सुआ रूपी गुरु की आवश्यकता पड़ती है । बिना गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के निराकार ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता । नागमती रूपी दुनियाँ-धंधा मनुष्य को विविध प्रकार से अपने में बाँधे रहती है । जो उसे समझ लेता है उसे मुक्ति मिलती है । साधना के मार्ग में अलाउद्दीन रूपी माया और राघवचेतन रूपी शैतान सबसे बड़े अवरोध हैं । इन्हें हटाकर ही चरम सिद्धि की प्राप्ति की जा सकती है ।

आक्षेप

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण कथा एक रूपक (अन्योक्ति) बन जाती है । कुछ विद्वानों का यह कथन है कि उपर्युक्त अंश जायसी कृत नहीं है, इसलिए सारी कथा को निश्चित रूप से अन्योक्ति ही मान बैठना काध्य और कथा के साथ जबर्दस्ती करना है । इन विद्वानों को ग्रंथ में आये अनेक पात्र अपने प्रतीकात्मक अर्थ की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ नहीं दिखाई देते । यहाँ तक कि 'पद्मावती', और 'रत्नसेन' के भी प्रतीकों का ठीक-ठीक निर्वाह सर्वत्र नहीं हो पाया है ।

इन लोगों का यह भी कहना है कि जायसी ने एक सामान्य कथा को काव्यमयी भाषा में प्रस्तुत किया है । उस समय उनका ऐसा अन्योक्ति पूर्ण उद्देश्य नहीं था । भाव और कल्पना के धनी जायसी की लेखनी से कुछ ऐसे मर्मस्पर्शी स्थल अंकित हो गये हैं कि हमें वहाँ अलौकिक सत्ता का आभास होने लगता है, परन्तु ऐसे स्थल बहुत थोड़े हैं और इन्हीं स्थलों के आधार पर सम्पूर्ण 'पद्मावत' को एक अन्योक्ति नहीं माना जा सकता ॥

समाधान

उपर्युक्त मत के समर्थक विद्वानों के विरोध में यह कहा जा सकता है कि जिस आधार पर उन्होंने पद्मावत के उक्त अंश को प्रक्षिप्त माना है, वह कोई विशेष प्रामाणिक आधार नहीं कहा जा सकता। एक गुट का समर्थन पा लेने मात्र से उक्त अंश को प्रक्षिप्त अंश नहीं माना जा सकता। जायसी साहित्य की अभी अधिकाधिक खोज होनी चाहिए और प्रामाणिक प्रतियों के आधार पर ही विद्वानों को कोई ऐसा सर्वमान्य निर्णय करना चाहिए। अभी तक जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनके सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। उपर्युक्त अंश कितनी पांडुलिपियों में है और कितनी में नहीं, यह बात कोई अधिक महत्व नहीं रखती। निवदन इतना ही है कि काव्य के मूल प्रेरणा-स्रोत को देखा जाय। पद्मावन के प्रणेता को पद्मावत लिखने की प्रेरणा किस बिन्दु से मिली है? पता लगाने पर संभवतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि जायसी का हृदय एक लौकिक प्रणय की पीर से भरा होने के नाते ही पद्मावत जैसे महाकाव्य को रूप दे सका है। 'पद्मावन' लिखने के मूल में पद्मावती और रत्नसेन की सामान्य प्रेम-कथा की भावना का प्राधान्य नहीं दिखाई देता। अलौकिक प्रेम से अभिभूत होने के कारण ही ऐसे उत्कृष्ट भाव और कल्पना का सृजन कवि द्वारा हो सकता है; और सबसे बड़ी बात तो यह है कि जायसी एक सूफी भक्त है। सूफी भक्तों का जो मूल उद्देश्य रहा है, उसे विद्वान् भली-भाँति जानते हैं।

पद्मावत में रूपक (अन्योक्ति) का सागोपांग निर्वाह न होने का कारण कवि के शास्त्रीय अध्ययन का अभाव कहा जा सकता है। कवि के जीवन-वृत्त शीर्षक के अन्तर्गत इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। विधिवत् अध्ययन के अभाव में कवि अपने चरित्रों का संतुलन नहीं रख पाया है। एक प्रमुख कारण यह भी है कि इस दिशा में उसका निर्देशक करने वाला कोई नहीं था। केवल अनुभव-ज्ञान के आधार पर इतने विशाल काव्य का प्रणयन करते समय यदि कवि कहीं-कहीं असंतुलित हो गया है तो इस आधार पर हम उसके मूल लक्ष्य पर आक्षेप नहीं कर सकते

हठयोग

पद्मावत में सूफीमत के साथ-साथ हठयोग आदि का भी पर्याप्त समावेश है। कुछ उदाहरण देखिए —

“बोवह भुवन जे तर-उपराहीं । ते सब मानुष के घट मांही ॥”

×

×

×

“नो पौरी वाकी नो खण्डा । नवों जो चढ़ जाइ बरभंगा ॥”

×

×

×

“फिरहि पाँच कोतवार सुपौरी । कपि पाँच चढ़त वह पौरी ॥”

×

×

×

“गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया । पुरुष देख ओही कं छाया ॥
पाइय नाहि जूझ हठ कीन्हें । जेइ पावा ते आपहि चीन्हें ॥
नौ पौरी ते गढ़ संझिधारा । श्रौतहूँ फिरहि पाँच कोतवारा ॥
बसवैं दुआर गुप्त इक ताका । अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका ॥
भेदे जाइ कोइ वह घाटी । जो लह भेद चढ़े होइ चांटी ॥
गढ़तर कुँड सुरंग तेहि भांवा । तँह वह पँथ, कहौ तोहि पांवा ॥
बसम दुआर ताल कं लेखा । उलटि दिस्टि जौ लाव सौ देखा ॥”

इन पंक्तियों में हठयोगी साधना का चौदहो लोक शरीर के नवद्वार पर (नव-पौरी) कुण्डलिनी शक्ति की नवस्थितियों (नवखंड के ब्रह्म रश्मि) (दशवाँ दुआर), पंच प्राण (पाँच कोतवार), आत्मबोध (आपुहि चीन्हे) साधना का दुर्गम मार्ग (अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका), कुण्डलिनी मार्ग (घाटी), पिपीलिका मार्ग (चढ़े होइ चांटी) अग्नि चक्र (गढ़तर कुंड), अंतर्मुखी दृष्टि (उलटि दिस्टि) का स्पष्ट संकेत है ।

साधना मार्ग

सूफीमत के अनुसार साधना मार्ग की चारो अवस्थाओं (शरीयत, तरीकत, मारिफत और हकीकत) का स्पष्ट विवेचन हमें पद्मावत में मिल जाता है—

“नवौ खंड नव पौरी, ओ तँह वज्र केवार ।

चारि बसेरे जो चढ़े, सत सौ उतरें पार ॥”

यहाँ ‘चारि बसेरे’ से चारो अवस्थाओं तथा सत से सात अवस्थाओं की ओर कवि का संकेत है । सातो मुकामात रत्नसेन रूपी साधक के मार्ग में आये हैं और साधना मार्ग की समस्त कठिनाइयों को पार करके रत्नसेन ने पद्मावती को प्राप्त किया है ।

‘पद्मावत’ की रूपक कथा को और भी अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए यहाँ डा० रामरतन भटनागर द्वारा किया गया विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है—

पद्मावत में चितौड तन है, रत्नसेन मन है । चित्तौड़ रूपी तन में स्थित मन साधारण रूप से लौकिक विषय-वासना में लिपटा रहता है । रत्नसेन केवल तन में स्थित है, उसकी वृत्तियाँ कायिक हैं । वह दुनिया-धन्धे (नागमती) में लिप्त है, परन्तु ईश्वर की अनुकम्पा से एक दिन उसे पद्मावती के अद्वितीय सौंदर्य का पता चल जाता है । उस लक्ष्य के लिए उसके हृदय में आकुलता उत्पन्न हो जाती है, परन्तु उस लक्ष्य तक उसका पथ-प्रदर्शक कौन बने ? पथ-प्रदर्शक बनता है हीरामन तोता (सुआ) जो सूफी साधना के ‘गुरु’ का प्रतीक है । अनेक बाधाओं को पार करके गुरु के दिखाये पथ पर बढ़ता हुआ साधक रत्नसेन लक्ष्य की प्राप्ति करता है, परन्तु लक्ष्य कहीं बाहर

जायसी : एक विवेचन

नहीं है। इसी हृदय (सिंहल) के भीतर अवस्थित सहज सौंदर्य बुद्धि ही साधक का लक्ष्य है। पहले इस सहज बुद्धि (पद्मिनी) को ही पाना होता है। सूफी परिभाषा में इस संकेत-कोष को इस प्रकार भी रख सकते हैं:—

चित्तीड़=तन= } सालिक, आबिद की 'अक्ल'
रत्नसेन=मन= }

(सुआ) हीरामन=गुरु=मुरशिद

सिंहलद्वीप=हृदय=कल्व (रूह)

पद्मिनी=सहजबुद्धि=मुआरिफ (प्रज्ञा)

नागमती=दुनियाँ-बंधा=नपस

सालिक (साधक) के मार्ग में दो बाधाएँ हैं, अक्ल (मन) और नपस (नागमती)। वह नपस (नागमती) द्वारा अपने चित्तीड़ में ही लीन रहता है, परन्तु यदि उसे मुरशिद-कामिल (सुआ) मिल जाता है तो वह 'नपस' से छुटकारा पा जाता है और 'कल्व' या 'रूह' में स्थित 'मुआरिफ' (सहज-बुद्धि, प्रज्ञा) की प्राप्ति की ओर बढ़ता है। नागमती (नपस) भी सुन्दर और मोहक है और पद्मिनी (मुआरिफ़) भी सुन्दर है। अतः जायसी ने दोनों को चित्रित किया है। नपस मुरशिद में विश्वास नहीं करती, इसी से नागमती सुए को मार डालना चाहती है, परन्तु एक बार 'मुआरिफ़' का सौन्दर्य साधक (सालिक) ने जान लिया तो वह मुड नहीं सकता, वह लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य करेगा। कथा में यदि नागमती की अवतारणा न होती तो नपसी की मोहकता और उसके बंधन का चित्रण भी नहीं हो पाता।

परन्तु फिर प्रश्न उठता है कि नागमती के विरह और पद्मिनी की प्राप्ति पर नागमती और पद्मावती के रत्नसेन के साथ प्रसन्न रहने और कमलसेन और नागसेन पुत्रों के जन्म का क्या रहस्य है ?

नागमती का विरह

नागमती का विरह केवल भारतीय साहित्य-परम्परा के कारण पद्मावत में स्थान पा रहा है। रूपक तो है ही। परन्तु जब विशिष्ट पात्र खड़े किए गए हैं तो कथा की आवश्यकता को पूरा करना होगा। 'षट्श्रुतु वर्णन' के बिना कोई काव्य कैसे पूर्ण कहा जा सकता था ? इसी से 'नागमती के विरह' की योजना हुई। उसके पीछे किसी का संकेत दूँदना बुद्धि विलास ही होगा। हाँ, सूफी-साधना में विरह का बड़ा महत्व है। इससे नागमती के विरह-वर्णन में स्वतन्त्र रूप से जो प्रेम की पीर प्रकाशित हो गई वह तो सूफी परम्परा की चीज है ही। पद्मिनी की प्राप्ति से नागमती के साथ प्रसन्नता पूर्वक रहने का अर्थ केवल यही है कि मुआरिफ़ के उदय होने पर सालिक नपसपरस्ती से हट जाता है। उसकी इन्द्रियाँ ईश्वरोन्मुख हो जाती हैं। नपस (नागमती) से भागने की उसे आवश्यकता नहीं होती।

कमलसेन और नागसेन

कमलसेन और नागसेन का जन्म केवल कथा को सुखद बनाने के लिये है । पद्मावती का पुत्र पद्मसेन या कमलसेन और नागमती का नागसेन है । इससे अधिक कोई हस्य नहीं है ।

प्रतीक

उत्तरार्द्ध में नागमती (नपस) का कोई महत्व नहीं रह जाता । वह पद्मावती (मुआरिफ) की पोषक या सहगामिनी मात्र है । 'सुआ' और 'सिहल' के प्रतीक भी समाप्त हो जाते हैं । कुछ नये प्रतीक आये हैं—राघवचेतन—(शैतान) अलाउद्दीन मुलतान—माया । इन दो प्रतीकों को देकर उत्तर कथा की ओर से जायसी निश्चिन्त हो गए है और अर्थ खोलने के लिए पंडित-बुद्धि को चलेन्ज देते हैं । साधक की नपस बुद्धि और प्रज्ञा (मुआरिफ) से उसका मेल शैतान को पसंद नहीं । खुदा और बन्दे के बीच में शैतान है । मुआरिफ खुदा की ओर ले जाती है, अतः शैतान को यह विष लगता है । इसलिए वह बन्दे और खुदा (रत्नसेन और पद्मावती) में विछोह डालना चाहता है । वह माया की शरण जाता है । सूफी परिभाषा में राघवचेतन शैतान है और अलाउद्दीन को जायसी ने 'माया' कहा है । सूफी दार्शनिक चिंतन में माया को स्थान ही नहीं है । हमारे यहाँ 'माया' जीव-ब्रह्म के बीच का व्यवधान है । माया का अर्थ सांसारिकता भी है जो जीव-ब्रह्म के मिलन में बाधक होती है जो साधक को ऐन्द्रियता की ओर ले जाती है । इस्लाम में 'माया' का स्थान शैतान ने ले लिया है । अलाउद्दीन को 'माया' कह कर जायसी ने भारतीय दार्शनिक चिंतन के एक शब्द को अपना लिया ।

सालिक जब सहज-बुद्धि, प्रज्ञा या मुआरिफ को प्राप्त हो गया तो फिर शैतान और माया का क्या काम ? परन्तु जायसी तो कथा की रक्षा करते हुए आगे बढ़ना चाहते थे । यदि वे ३७ वें खण्ड (पुत्र जन्म खण्ड) पर ही कहानी समाप्त कर देते तो प्रतीकों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, परन्तु अलाउद्दीन-पद्मनी की अत्यन्त प्रसिद्ध कथा को वे एकदम अख की ओट नहीं कर सकते थे । जब वह उत्तरार्द्ध की सारी कथा लिख गये तो उन्हें विवश होकर उसके सूफी-अर्थ करने पड़े । इसी से नये प्रतीक आये । शैतान और (या) माया साधक के प्रज्ञा के आनन्द में बाधा डालने के लिए सब कुछ करेगा, यही तथ्य है । हो सकता है वह सफल भी हो जाय (जैसा) पद्मावत में हुआ है ।) परन्तु यह किसी निश्चित तथ्य को उपस्थित नहीं करता । साधारण कथा को लेकर उस पर आध्यात्म पक्ष का आरोप करने में जो कठिनाइयाँ होती हैं, वह जायसी को भी हुईं ।

निष्कर्ष—

संक्षेप में, 'तन चितउर मन राजा कीन्हा' वाला अंश प्रक्षिप्त नहीं है। फिर संपूर्ण कथा को एक अन्योक्ति मान लेने में किसी को विरोध नहीं होना चाहिए, क्यों कि पद्मावत की मूल कथा साधना की कथा है, सामान्य कथा नहीं। साधना के मार्ग में पग-पग पर तर्क से काम लेना काव्य की हत्या करना है। जिस निराकार भक्ति का मसनवी शैली में जायसी ने प्रतिपादन किया है उसकी महानता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। कवि के शास्त्रीय अध्ययन की कमी, काव्य गुरु का अभाव, जीवन की अस्थिरता आदि ने मिलकर पद्मावत में अनेक स्थलों पर उसके प्रतीकों की निर्वाहगति में बिघ्न डाला है, जिसके लिए कवि को एकदम क्षमा तो नहीं किया जा सकता, किन्तु फिर भी उसकी मूल साधना को ध्यान में रख कर हमें उसके प्रतीकों पर विश्वास करना ही पड़ेगा। काव्य और भक्ति मस्तिष्क के साथी होकर हृदय के अधिक साथी हैं। डा० सुधीन्द्र ने ठीक कहा है—“पद्मावत एक विराट् आध्यात्मिक रूपक संकेत अथवा “अन्योक्ति” है, जिसमें लौकिक, शारीरिक और बोधगम्य प्रतीक द्वारा आलौकिक, अशरीरी और ज्ञानातीत ब्रह्म, जीव और उनके चिरन्तन सम्बद्ध अद्वैत की व्यंजना की है।” पद्मावत आने में समासोक्ति की अधिकाधिक विशेषताओं को समेटते हुए भी अन्ततः एक अन्योक्ति काव्य है।^१



१. कतिपय आलोचक पद्मावत को अन्योक्ति न मानकर समासोक्ति मानते हैं।

हिन्दी में प्रेमगाथा काव्य और जायसी

हिन्दी में प्रेमगाथा काव्य का इतिहास जानने के पूर्व हमें उन समस्त परिस्थितियों से अवगत होना अनिवार्य है जिनके बीच सूफी-धर्म ने भारत में प्रवेश किया और वह पनपा, क्योंकि सूफी-धर्म ही प्रेमगाथा काव्यों का मूलाधार है। परिस्थितियाँ—

मुसलमानों की शासन सत्ता के साथ धर्म के प्रचार की आंधी आई। तलवार के जोर से इस्लाम फैलने लगा। कायर और असमर्थ हिन्दू प्राण रक्षा के लिए धर्म परिवर्तन करने लगे। मुसलमानों की धर्मान्धता का यह वेग ज्यों-ज्यों बढ़ता गया दोनों जातियों के बीच र्यों-र्यों बैर-विरोध की खाई भी चौड़ी होती गई। लोक-जीवन में उसका अनिष्टकर प्रभाव फैलने लगा। इस समय कोई ऐसी आध्यात्मिक प्रतिभा अथवा शक्ति सम्पन्न व्यक्ति नहीं था जो विच्छिन्न और युयुत्सु जातियों को किसी आन्तरिक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करता। राजनीतिक हलचल ने देश, समाज और संस्कृति के क्षेत्र में एक गहरी निराशा उत्पन्न कर दी थी। इस समय सर्वत्र ही शांति, सुव्यवस्था और सहानुभूति की अपेक्षा थी। ग्यारहवीं शताब्दी तक प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत में इस्लाम फैल चुका था और अब वह दक्षिण की यात्रा पर था। ठीक इसी समय बारहवीं शताब्दी में दक्षिणी भारत में रामानुजाचार्य तथा माधवाचार्य आदि कई धर्माधिकारियों ने अवतरण ले मृतप्रायः हिन्दू-धर्म को पुनर्जीवन प्रदान किया। इस्लाम राजधर्म था और हिन्दू-धर्म लोक-धर्म। यद्यपि विशाल हिन्दू धर्म के सम्मुख इस्लाम धर्म की कोई सत्ता नहीं थी, किन्तु राजधर्म होने के नाते वह हिन्दू धर्म से अपने को घट कर नहीं समझता था। दोनों में घोर प्रतिद्वन्द्विता थी और एक दूसरे से श्रेष्ठ बनने का योथा अहंकार भी। हिन्दू-धर्म यद्यपि बड़ा ही उदार धर्म रहा है तथापि मुसलमानों की संकीर्णता के नाते उनके इस्लाम से मेल नहीं स्थापित कर सका। दूसरे दोनों में व्यावहारिक विरोधी तत्व भी पर्याप्त मात्रा में रहते आये हैं।

सूफियों का भारत में प्रवेश—बारहवीं शताब्दी में ही सूफियों के भी भारत में प्रवेश करने का अनुमान किया जाता है। वैसे कुछ लोगों का यह भी विचार है कि मुसलमानी सूफी सन्तों का आगमन विदेशी आक्रमण से भी पहले हो गया था,

परन्तु राजसत्ता स्थापित होने से पूर्व वे विशेष प्रकाश में नहीं आये थे। शुरु-शुरु में सूफी साधक सिन्ध और पंजाब में आकर बसे; और फिर वहीं से धीरे-धीरे सारे देश में फैल सूफी मत का प्रचार करने लगे। ये साधक अन्यान्य मुसलमानों के समान कट्टर और विरोधी नहीं थे, इसलिये भारतीय जनता ने विश्वासपूर्वक इनकी साधना के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित की। मुइनउद्दीन (११४२ ई०), कुतुबुद्दीन काकी, फरीद शंकरगंज (१२०० ई०), शेख चिस्ती (१२६१ ई०), निजामुद्दीन औलिया (१२३५ ई०), सलीम चिस्ती (१५१२ ई०) तथा मुबारक नागोरी आदि सूफी साधकों ने समान भाव से हिन्दू और मुसलमान दोनों का आदर और विश्वास प्राप्त किया था। बहुतांश की समाधि पर आज भी हजारों की संख्या में श्रद्धालु हिन्दू और मुसलमान जनता अपनी भक्ति निवेदन करने प्रति वर्ष जाती है। यह बात कुछ बड़ी विचित्र तथा विरोधाभास सी लगती है कि उन दिनों जब कि हिन्दुओं और मुसलमानों में काफी बैर विरोध बढ़ा हुआ था, ऐसा मिलन किस प्रकार सम्भव हो सका। इस क्रम में आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—

“मध्य युग बहुत कुछ करामातों का युग था। उस युग के प्रत्येक साधु सन्त के नाम पर बी-चार करामाती किस्से मिल ही जाते हैं। इन करामातों और उनकी ख्याति से लोग परस्पर एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते थे। दोनों ज्यों-ज्यों निकट आते गये त्यों-त्यों अधिकाधिक अनुभव करते गये कि दोनों में तात्त्विक मतभेद बहुत कम हैं। कबीर आदि सन्तों ने इस बात पर बहुत जोर दिया। इन्होंने हिन्दुत्व और मुसलमानत्व के बाह्य उपकरण को हटाकर उनका असली रहस्य पहचानने की चेष्टा की। मुसलमानों की ओर से यह काम प्रेम-कहानियाँ लिखकर सूफी सन्तों ने किया।” कबीर आदि भाड़-फटकार के द्वारा चिढ़ाने वाले सिद्ध हुए। सन्तों के साथ उनकी तुलना करते हुए आचार्य शुक्ल ने बताया है कि कबीर आदि का प्रयत्न हृदय-स्पर्श करने वाला नहीं हुआ। “मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है वह उनके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य जीवन में जिस हृदय का अनुभव मनुष्य कभी-कभी किया करता है, उसकी अभिव्यंजना उनसे न हुई। कुतुबन, जायसी आदि इन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा, जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दु और मुसलमान हृदय को आमने सामने करके अजन-बीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा।” इन साधकों ने हिन्दी में एक विशेष प्रकार के साहित्य को लुप्त होने से बचा लिया। आचार्य डा० हजारी प्रसाद के शब्दों में, “कबीरदास के निर्गुण भजन, सूरदास के लीलागान और तुलसी के रामचरितमानस अपनी अन्तर्निहित शक्ति के कारण अत्यधिक प्रचलित हो गये और हिन्दू जनता का सम्पूर्ण ध्यान अपनी ओर खींचने में समर्थ हुए। परन्तु जन-साधारण

ता एक और विभाग, जिसमें धर्म का स्थान नहीं था, जो अपभ्रंश साहित्य के दिक्मी आकार से सीधे चला आ रहा था, उपेक्षित होने लगा था। इन सूफी णवकों ने पीराणिक आख्यानों के बदले इन लोक-प्रचलित कथानकों का आश्रय कर ही अपनी बात जनता तक पहुँचाई।”

ऐसा बताया जाता है कि हजरत मुहम्मद की मृत्यु के कुछ समय उपरान्त से अब खलीफाओं की धार्मिक भावना पर राज्य विस्तार तथा ईश्वर-प्राप्ति की भावना। अपना अधिकार जमा लिया तो इस्लाम धर्म में भी आडम्बर और साम्प्रदायिकता का समावेश होने लगा। इस्लाम से दूर करने के लिए अथवा इसकी प्रतिक्रिया स्व-स्व ही सूफीमत का अविर्भाव हुआ था।

चार सम्प्रदाय — भारत में यह सूफी धर्म प्रधानतः चार सम्प्रदायों के रूप में विष्ट हुआ इन्हीं चारों सम्प्रदायों की धार्मिक प्रवृत्ति के रूप में उसका यहाँ विकास हुआ। वे चारों सम्प्रदाय इस प्रकार हैं—

- (१) चिश्ती सम्प्रदाय।
- (२) सोह्रगवर्दी सम्प्रदाय।
- (३) कादरी सम्प्रदाय।
- (४) नक्शबन्दी सम्प्रदाय।

ये सम्प्रदाय बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक अने रहे। इनके सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये न तो किसी नृपति के आश्रय में पल्लवित हुए और न किसी के द्वारा इनका संगठन ही किया गया। इन सम्प्रदायों के सूफी संत अपनी व्यक्तिगत महत्ता और साधना के आधार पर जनता तथा राज्य में श्रद्धा व आदर प्राप्त करते थे। ये संत अपने धार्मिक जीवन में अत्यंत सरल और सहिष्णु थे। इनमें उदारता और विशालता थी। ये धार्मिक स्थानों का परिभ्रमण कर अपना अनुभवजन्य उपदेश जनता को देते थे। उन्होंने अपने ज्ञान स्वी प्रकाश के स्तम्भों से अपने उपदेशों का आलोक दूर-दूर तक जन-धरा पर बखेरा। अपने आकर्षण और प्रेम के माध्यम से अन्य मताबलंबियों को व्यक्तिगत सात्विक प्रभाव में लाकर सूफी सन्तों के अनुयायियों में परिवर्द्धि की। ये चारों सम्प्रदाय अपने मूल सिद्धान्तों में समान थे। ब्रह्म रूप से उनमें वही भेद मालूम होता था जो किन्हीं भी दो व्यक्तियों के व्यक्तित्वों व सिद्धान्तों में हो सकता है। उनके धार्मिक विचारों और व्यवहारों में पर्याप्त उदारता थी। मुसलमानों के एकेश्वरवाद की अपेक्षा उन पर भारतीय अद्वैतवाद का प्रभाव अधिक गहरा पड़ा था। उनकी प्रवृत्ति बड़ी ही सात्विक थी और यही सात्विकता उनकी महत्ता का प्रमुख आकर्षण था। ईश्वर को प्राप्त करने की उनकी प्रेममयी साधना ही सूफी-धर्म की प्राण-शक्ति

कही जायगी। हिन्दी प्रेमगाथा काव्यों के मूल में सूफियों की यही ईश्वरोन्मुख प्रेम-मयी वृत्ति काम करती है

हिन्दी साहित्य में प्रेम काव्य

हिन्दी साहित्य में सूफी साधना दो भागों में व्यक्त हुई। प्रथम हिन्दी या खड़ी बोली में (ब्रज, पंजाबी, दकनी और अन्य प्रान्तीय बोलियों से मिश्रित) और द्वितीय, अवधी में। खड़ी बोली में सूफी साहित्य फुटकर पदों, दोहों और गजलों आदि के रूप में रचा गया। पश्चिमी और दक्षिणी भारत में इस प्रकार की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में हुईं। पूर्वी हिन्दी प्रदेश में अवधी के माध्यम द्वारा यह प्रकाश में आई। दोनों भाषाओं में “मसनवी” (कथात्मक) साहित्य की रचना हुई। परन्तु खड़ीबोली की मसनवीय “दकनी” (फारसी और ब्रजभाषा मिश्रित खड़ीबोली) में हैं और उन पर भारतीय कथा-पद्धति और काव्य का उतना प्रभाव नहीं है जितना पूर्वी साधकों की अवधी कथाओं में जान पड़ता है। जो कथाएँ इन साधकों ने पद्यपद्ध कीं, वे मौलिक रूप से भारतीय थीं और जन साधारण में लोक-कथाओं के रूप में चली आ रही थी। उनहोंने उनके प्रभाव को समझा और उन्हें अपने भावों के प्रचार का माध्यम बनाया। वस्तुतः अवधी का सूफी काव्य ही हिन्दी में प्रमुख प्रेमालयानक काव्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रेम कथाएँ लिखी हुई हैं।

इनके इतिहास पर दृष्टिपात करने से इन प्रेम कथात्मक काव्यों का परिचय हमें चारण-काल से ही मिलने लगता है। मुल्ला दाऊद के ‘चम्पावत’ को लोग इस परम्परा का प्रथम प्रसिद्ध काव्य बताते हैं। इस नाते उसका ऐतिहासिक महत्व विशेष है। इस काव्य में नूरक और चन्दा की प्रेमकथा का वर्णन है। इसका रचना काल १३.८ ई० है। यह समय अलाउद्दीन खिलजी के शासन का था। इसके पश्चात् कुतुबन से पूर्व हमें कोई ऐसा काव्य नहीं उपलब्ध होता। सम्भव है और भी प्रेमकथाएँ लिखी गई हों जो इस समय प्राप्य नहीं है। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने पद्मावत नामक ग्रंथ में कुछ प्रेम कथाओं का संकेत इस प्रकार किया है—

“विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा ॥

मधु पाछ मुगधावती लागी। गगनपूर होइगा बैरागी ॥

राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ ॥

साध कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कहँ कीन्ह बियोगू ॥

प्रेमावति कहँ सुरसर साधा। ऊषा लागि अनिरुध वर बाँधा ॥”

—(राजगढ़ घेरा खंड)

इससे प्रतीत होता है कि जायसी (सन् १४६५ ई०) से पूर्व सपनावती, मुगधावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती प्रेम-काव्य लिखे जा चुके थे। इन में मृगावती और मधुमालती तो खंडित रूप में उपलब्ध हैं, परन्तु शेष का पता नहीं।

जायसी द्वारा सांकेतिक कथाओं में विक्रमादित्य एवं उषा-अनिरुद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। शेष लोक प्रचलित कथाओं का आश्रय लेकर लिखी हुई जान पड़ती हैं।

मृगावती—‘मृगावती’ की रचना शेख कुतुबन द्वारा हुई है, जिसका रचनाकाल १५६० है। मृगावती में, मृगावती और चन्द्रगिरि के राजकुमार की प्रेमकथा का वर्णन पाया जाता है। कथा का वर्णन दोहा चौपाई तथा सोरठा और अरिल्ल छंदों में हुआ है। इसमें शाही परम्परा का प्रभाव पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है। साथ ही भारतीय परम्परा का भी इस पर प्रभाव है। राजकुमार की मृत्यु के उपरान्त उसकी दोनों रानियाँ सती हो जाती हैं और तब कवि कह उठता है—

“बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई।

विधि कर चरित न जानें आनू। जो सिरजा सो जाहि नियानू ॥”

मधुमालती—‘मधुमालती’ के रचयिता मंभन है। अनुमानतः इसका रचनाकाल १५७५ से १८८५ के बीच में कहा जा सकता है। इसकी कथा तथा वर्णन शैली अपने पूर्ववर्ती ग्रंथों की अपेक्षा अधिक जटिल प्रांजल व कोमल है। इसमें कनेसर के राजकुमार ‘मनोहर’ और महारस की राजकुमारा मधुमालती की प्रेमकथा के साथ ही साथ उपनायक ताराचन्द तथा उपनायिका प्रेमा की कथा का भी वर्णन हुआ है। जायसी ने मधुमालती का नायक खंडावत लिखा है, परन्तु उस्मान कृत चित्रावली में इसके स्थान पर मनोहर का उल्लेख है—

“मधुमालति होई रूप देखावा। प्रेम मनोहर होई तहँ आवा ॥”

इस काव्य में प्रेम के सिद्धान्त तथा कथा का संगठन और विरह का बड़ा मनोहारी चित्रण हुआ है। यह काव्य वर्णन-प्रधान है। कहा जाता है कि इसे अपने समय में सर्वाधिक ख्याति मिली थी। कवि ने अपनी कोमल भावनाओं को मनोहर कथासूत्र में बड़ी सावधानी से पिरोया है। इस काव्य के अत्यधिक प्रभावशाली होने का एक प्रमुख कारण यह भी है कि इसके कवि ने प्रेम भाव को प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर जागृत कराया है।

पद्मावत—‘मृगावती’ और ‘मधुमालती’ के बाद जायसी के ‘पद्मावत’ का ही नाम आता है क्योंकि जायसी के पश्चात् हुए उसमान कवि ने भी ‘मृगावती’, मधुमालती और ‘पद्मावती’ का उल्लेख किया है—

“मृगावती मुख रूप बसेरा। राजकुँवर भयो प्रेम अहेरा ॥

सिंहल पद्मावति भो रूपा। प्रेम कियो है चितउर भूपा ॥

मधुमालति होई रूप देखावा। प्रेम मनोहर होई तहँ आवा ॥”

—(चित्रावली, पृष्ठ १३)

पद्मावत हिन्दी-साहित्य का एक जगमगाता रत्न है। जिसकी उद्योति कभी क्षीण होने वाली नहीं। इसके प्रेमकथान का प्रभाव इतना पड़ा कि उसके बाद

प्रेमाख्यान काव्यों की एक परम्परा सी चल पड़ी और वह उन्नतवीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही। पद्मावत के बाद लिखे गये प्रमुख प्रेम काव्यों की तालिका डा० विमल कुमार जैन ने इस प्रकार दी है^१।

काव्य	कवि	काल	
१. चित्रावली	उसमान	सन् १०२२ हिजरी	(सन् १६१३ ई०)
२. ज्ञानदीप	शेखनबी	लगभग सं० १६७६	(सन् १६१६ ई०)
३. हंस जवाहर	कासिमशाह	लगभग सं० १७८८	(सन् १७३१ ई०)
४. इन्द्रावती	नूर मुहम्मद	हिजरी सन् ११५७	(सन् १७४४ ई०)
५. अनुराग बाँसुरी	„	हिजरी सन् ११७८	(सन् १७६४ ई०)
६. प्रेमरतन	फाजिलशाह		(सन् १८४८ ई०)

इसी क्रम में वे दो काव्यों का और उल्लेख करते हैं। उनके नाम हैं—माधवानल और युसुफ जुलेखा। ‘माधवानल’ के रचयिता आलम है और उसका रचना काल हिजरी ९९१ (सन् १५८३ ई०) है। ‘युसुफ जुलेखा’ के रचने वाले शेख निशा निशार हैं। इसका रचनाकाल हिजरी सन् १२०५ (१७९० ई०) है, परन्तु इन ग्रन्थों का प्रेम-गाथा-काव्य परम्परा में कोई विशेष महत्व नहीं। डा० कमलकुल श्रेष्ठ ने पुहुपावती नाम के एक और ग्रंथ की चर्चा की, वह निश्चय ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

चित्रावली—‘चित्रावली’ का स्थान अपनी परम्परा में बड़े गौरव का है। इसका प्रणयन बहुत कुछ पद्मावत के अनुकरण पर हुआ है। प्रमुख अन्तर यही है कि इसकी कथा पद्मावत की भाँति ऐतिहासिक न होकर कल्पना-प्रसूत है। इसमें कवि ने स्थान-स्थान पर वेदान्त और अद्वैतवाद की झलक दिखाई है—

“सब वह भीतर वह सब माँही, सब आपु दूसर कोउ नाहीं।

दूसर जगत नाम जिन पावा, जंसे लहरा उदधि कहावा ॥”

कथा में घटनाओं की शृंखला बहुत लम्बी और कौतूहलपूर्ण है। उसमें अनेक अलौकिक बातों का भी समावेश है। कथा को विस्तृत करने की कल्पना की गई है। इसमें नैपाल के राजकुमार ‘सुजान’ रूपनगर की राजकुमारी ‘चित्रावली’ और सागर की राजकुमारी कमलावती की प्रेम-कथा है। दोनों राजकुमारियों से विवाह करने से पूर्व जितनी कठिनाइयाँ आती हैं उनका विस्तृत-विवेचन इस काव्य में किया गया है। कवि ने कल्पना के साथ आध्यात्म की बड़ी मनोहर व्यंजना की है। चित्रावली को लेकर काव्य में अनेक स्थानों पर ईश्वर और जीव का रूपक बाँधा गया है। वह जब जल में छिप जाती है तो सखियाँ उसे ढूँढती रहती हैं। सखियों का यह ढूँढना आत्मा की जिज्ञासावृत्ति का चोतक है; और चित्रावली का जल में छिपना ईश्वर के अमूर्त

होने से साम्य रखता है। देखिये, चित्रावली के जल में छिप जाने पर कवि ने सखियों से कैसे अलौकिक और गूढ़ वचन कहलवाए है —

“गुप्त तोहि पावहि का जानी। परगट मँह जो रहहि द्वयानी॥
बनुरानन पढ़ि चारों वेदू। रहा खोज पं पाव न भेदू॥
संकर पुनि हमरे कं सेवा। ताहि न मिलिज और को देवा॥
हम अंधी जेहि आपु न सूझा। भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा॥
कौन सो ठाँउ जहाँ तुम नाहीं। हम चषु जोति न देखहि काहीं॥
पावें खोज तुम्हार सो, जेहि देखलावहु पथ।
कहा होइ जोगी भये, ओ पुनि पढ़े ग्रंथ॥”

(चित्रावली पृष्ठ ४७-४८)

बहुज उसमान ने अपनी लोकोक्तियों द्वारा काव्य में एक विचित्र प्रभावोत्सादकता ला दी है। यथास्थान कवि का भूगोलादि का ज्ञान भी परिव्यक्त हुआ है।

ज्ञानदीप— राजा ज्ञानदीप और देवजानी की कथा वर्णित है। इसके कवि शेख नबी जौनपुर जिले में मऊ के निवासी थे। इस काव्य में भी परम्परागत गुणों और यथेष्ट सरसता का समावेश है।

हंस जवाहर—राजाहंस और रानी जवाहर की प्रेम कहानी है। इसके रचयिता कासिमशाह दरियाबाद (बाराबंकी) में उत्पन्न हुए थे। ये अपनी जाति में निम्नवर्ग से सम्बन्धित थे। हंस जवाहर की कथा इस तरह है कि बलखनगर के सुलतान बुरहान के घर एक प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ और चीनाधिपत्य आलमशाह के घर जवाहर नाम की एक सुन्दरी कन्या ने जन्म लिया। बड़े होकर इन दोनों के हृदय में प्रेम का बीजारोपण हुआ। हंस, जवाहर के लिए घर से योगी होकर निकला और अनेक कष्टों के पश्चात् उसे प्राप्त कर घर लौटा। यह काव्य भी अपनी परम्परा के अन्य काव्यों की भाँति आध्यात्मपरक ही है।

इन्द्रावती और अनुराग-बाँसुरी—इसके रचयिता नूर मोहम्मद हैं। ये जौनपुर जिले में सवरहद नामक स्थान के रहने वाले थे। बाद में आजमगढ़ में अपने समुद्रसमुद्दीन के यहाँ रहने लगे। इनका समय १७४० के आस-पास का है क्योंकि ‘इन्द्रावती’ में दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह की प्रशंसा की गई है। ‘इन्द्रावती’ का रचनाकाल ११५७ हिजरी (सन १७४४ ई० के लगभग) और ‘अनुराग बाँसुरी’ सन् ११७८ हिजरी (सन् १७६४ ई० के लगभग) है। डॉ० विमलकुमार जैन के शब्दों में “अनुराग बाँसुरी तो तत्त्वज्ञान की मंजूषिका ही है। ईश्वर जीव के मध्य मनोवृत्ति के सहारे प्रेम कथा का ऐसा सुन्दर चित्रण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।” नूरमुहम्मद का उपनाम कामयाब था।

प्रेमरसन—नूर मुहम्मद के बाद फाजिलशाह ने 'प्रेम-रसन' लिखा जिसमें नूरशाह और माहेमुनीर की प्रेम-कथा है, परन्तु इसका अपनी परम्परा में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं। इसमें भी वही सब बातें साधारण स्तर पर दुहराई गई हैं।

इसी प्रकार 'नलदमन'—नाम का भी एक काव्य मिला है जो १३५३ ई० का है। इसके लेखक कोई सूरदास हैं पर यह भी महत्व-हीन काव्य है।

पुहुपावती—का रचनाकाल १६६६ ई० है। इसके रचयिता दुखहरनदास हैं। इसमें राजपुर के राजकुंवर और अनूपनगर के राजा अंबरसेन की पुत्री पुहुपावती और काशी के चित्रसेन की कन्या रूपवती की प्रणय कथा है। यह ग्रन्थ भी उच्चकोटि का आध्यात्म-परक सूफी प्रेमाख्यानक काव्य है।

इस परम्परा के समस्त ग्रन्थों का अवलोकन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इस धारा के कवियों की दृष्टि सूफीमत के प्रचार पर सर्वाधिक सम्पूर्णतः नहीं टिकी रही। हमारे कथन की पुष्टि इस बात से और भी होती है कि सभी ग्रन्थों में पारस्परिक समानताएँ हैं जिनसे यह प्रतिध्वनित होता है कि सभी एक ही लक्ष्य के पथिक हैं। वह लक्ष्य और कोई नहीं सूफी मत का प्रचार ही था। कवि बड़े ही उदार और सात्विक विचारों के थे जैसा कि सूफीधर्म में दीक्षित प्रत्येक व्यक्ति हुमा करता है वैसे ही इनका हृदय प्रेम की पीर से भरा हुआ था।

समानताएँ

इन ग्रन्थों में पाई जाने वाली कुछ प्रमुख समानताएँ इस प्रकार हैं—

१. प्रायः सभी काव्य मुसलमानों द्वारा लिखे गए हैं। इनके लेखक अत्यन्त ही उदार और सात्विक वृत्ति वाले थे।

२. सभी प्रेमाख्यानक काव्यों के नाम नायिकाओं के ऊपर हैं। नायक और नायिका क्रमशः ब्रह्म और जीव के प्रतीक रूप में चित्रित किये गए हैं। परम सौन्दर्य और अखंड प्रेम भावना रूपी नायिकाओं की प्राप्ति ही नायकों की साधना का लक्ष्य है। इन्हीं के लिए नायक भटकते फिरे हैं।

३. प्रत्येक काव्य का नायक दो पत्नी-धारी है। एक पत्नी सांसारिक कार्य भार को वहन करती है और दुसरी परमात्मा की उज्ज्वल ज्योति रूप है। 'पद्मावत में' पद्मावती और नागमती; 'मृगावती' में मृगावती और रुक्मनी दो-दो पत्नियों के रूप में चित्रित हैं। मधुमालती के कवि ने स्थिति में थोड़ा-सा मोड़ देकर भारतीय जनता के मर्म की ओर समीप से स्पर्श किया है।

४. सभी सूफी कवियों ने हिन्दू राजाओं को, भले ही वह कल्पित ही क्यों न हों अपने काव्य का विषय बनाया।

५. सूफी कवियों द्वारा वर्णित कथाएँ ही हिन्दू समाज की लोकप्रिय प्रेम कथाएँ नहीं हैं, वरन् काव्यों में प्रयुक्त पृष्ठभूमि भी अपनी सम्पूर्ण रीति-नीति में भारतीय है।

६. सभी कवियों ने नायिका (शक्ति) के माता-पिता द्वारा नायिका के विवाह का विरोध प्रदर्शित किया है।

७. सभी काव्यों में प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त ऐसे भी पात्रों की सृष्टि है जिनमें से कुछ व्यर्थ ही में दूसरों को हानि पहुँचाते हैं, दूसरों की प्रगति पर कुढ़ते हैं और मौका पड़ने पर बुरा कार्य करने में भी नहीं चूकते। इसके विपरीत कुछ ऐसे पात्र भी हैं जो हृदय के कोमल तथा उदार हैं और दूसरों की कार्य-साधना-सिद्धि में हाथ बँटाते हैं।

८. सभी काव्यों में साधक में कहीं रूप दर्शन के श्रवण से ही प्रेमोदीपन होता है तो कहीं रूप-सुन्दरी के चित्र-दर्शन मात्र से ही। हीरामन से पद्मावती के रूप-सौन्दर्य की चर्चा सुनकर ही रत्नसेन के मन में प्रेम का प्रकुर उग आता है 'चित्रावली' काव्य में चित्रावली का चित्र देखकर ही राजकुमार उस पर मोहित हो जाता है। मोहवश वह अपना चित्र भी उस चित्र के समीप लगा देता है, जिसे देखकर चित्रावली प्रेमविह्वल हो जाती है। मधुमालती, मृगावती और पुहुपावती में भी प्रथम दर्शन ही प्रेम की महायात्रा का आरम्भ बिन्दु है। इन कवियों ने प्रेम की आग दो तरफ से प्रज्वलित की है।

९. ये सभी काव्य फारसी की मसनवियों के ढंग पर लिखे गए हैं। इनमें भारतीय सर्गबद्ध काव्य शैली को नहीं अपनाया गया है। मसनवियों की शैली के अनुसार प्रथम स्मृतियाँ होती हैं जिनमें प्रायः क्रमानुसार ईश्वर, मुहम्मद साहब, खलीफा, गुरु एवं शाहे-वक्त की स्तुति का प्राधान्य रहता है। इनमें भी इसी पद्धति का अनुकरण है, साथ ही भारतीय पद्धति का भी इन पर पर्याप्त प्रभाव है।

१०. प्रायः सभी सूफी कवियों ने ठेठ अवधी को अपनाया है और दोहे-चौपाई छन्दों में अपने ग्रन्थों की रचना की है। कुछ चौपाइयों के बाद एक दोहे का विधान है। मृगावती और मधुमालती में चौपाई की पाँच पंक्तियों के पश्चात् और चित्रावली में सात पंक्तियों के पश्चात् एक दोहे का क्रम रखा गया है। नूर मुहम्मद ने 'अनु-राग-बांसुरी' में छः पंक्तियों के पश्चात् दोहा न रखकर एक बरवँ रखा है।

११. सबकी वर्णन-शैली, प्रतीक-योजना, अलंकार-योजना, समुद्र-यात्रा लगभग समान हैं।

१२. सभी काव्य आध्यात्म-भावना से ओत-प्रोत हैं। लौकिक प्रेम कथाओं में दिव्य-प्रेम की भाँकी है जिससे रहस्यात्मकता की अखण्ड व्यापकता प्रदर्शित हुई है। जीवात्मा, ईश्वरीय अंश और सम्पूर्ण विश्व उसी का प्रदर्शन माना गया है। इसी से जीवात्मा ईश्वर से मिलने को व्याकुल रहती है। गुरु की सहायता से ईश्वर की प्राप्ति होती है।

१३. सभी काव्यों में योग-भावना का समावेश है। सभी नायक यागी बने हैं। अनेक यौगिक क्रियाओं का वर्णन किया है। गोरखनाथ, गोपीचन्द तथा भर्तृहरि आदि योगियों का उल्लेख भी आया है।

१४. हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के प्रति समन्वयात्मक प्रेम भावना सभी काव्यों में व्यवत हुई है। निर्गुण और सगुण का अद्भुत मेल हुआ है जो भारतीय सूफी काव्यों की अपनी विशेषता है।

जायसी का योगदान

उपर्युक्त पंक्तियों में अभी तक हमने हिन्दी प्रेमगाथा काव्यों का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय व विचार-वर्णन-साम्य आदि का ज्ञान प्राप्त किया है; अब हम इस परम्परा में कविवर जायसी के योगदान का मूल्यांकन करेंगे।

जायसी का पद्यावत हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा का सर्वाधिक प्रकाशमान रत्न है। उसकी महानता और गुरुता अपनी परम्परा के समस्त काव्यों में सर्वाधिक है (इस काव्य को पढ़ने से ऐसा लगता है मानो कवि की आत्मा और वाणी दोनों प्रशान्त सागर की चंचल और स्निग्ध लहरियों के अन्तस्थल में डूब कर निकली हो) पद्यावत का शब्द प्रेम और आध्यात्म की व्यंजना से परिपूर्ण है। राजा रत्नसेन और रानी पद्यावती की प्रणय-कथा का जितना सरस, मार्मिक गम्भीर वर्णन कवि ने पद्यावत में प्रस्तुत किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इस परम्परा के ग्रंथ भी इसकी समकक्षता में देर तक नहीं ठहरते (नागमती का विरह-वर्णन तो हिन्दी कविता का प्राण-बिन्दु ही है) जायसी ने इतना बड़ा पद्यावत न लिखकर यदि केवल नागमती का विरह-वर्णन ही लिखा होता तो भी वे काव्य-जगत में अमर पद के भागी होते। (असुन्दर जायसी का मानस कितना सुन्दर था, इसे पद्यावत की पंक्तियाँ ही बता सकती हैं।)

ग्रंथ का पूर्वार्द्ध काल्पनिक और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है। पूर्वार्द्ध में तोते के द्वारा पद्यावती के रूप की प्रशंसा सुनकर रत्नसेन का सिंहलद्वीप तक जाना और शिवजी की कृपा से पद्यावती को प्राप्त करना वर्णित है यह भाग लोक-वार्ता पर आधारित है उत्तरार्द्ध में राघव का अलाउद्दीन को लाना और रत्नसेन, देवपाल के हाथों द्वारा मारा जाना ऐतिहासिक तो नहीं, किन्तु ऐतिहासिक सम्भावनाओं से युक्त है। इस ग्रंथ में नाथ-पंथ का भी प्रत्यक्ष प्रभाव है, क्योंकि सिंहलद्वीप नाथ-पंथियों की सिद्ध-पीठ है। हट योग की क्रियाओं का प्रभाव रत्नसेन पर स्पष्ट दिखाया गया है। ग्रंथ में स्थान-स्थान पर लौकिक प्रेम के सहारे आध्यात्मिक तत्त्वों की बड़ी सुन्दर व्यंजना प्रस्तुत की गई है।

काव्य मसनवी ढंग से रचा गया है। आरम्भ में ईश्वर, गुरु, रसूल और

शाहेबक्क की बन्दना है। सम्पूर्ण काव्य अवधी भाषा में दोहे और चौपाइयों की पद्धति पर लिखा गया है। ग्रंथ सर्गों में विभक्त न होकर खंडों में विभाजित है। कवि को कथा निर्वाह में काफी सफलता मिली है। इसके अतिरिक्त ऋतु वर्णन, प्रकृति चित्रण, विचारों की उदारता व उदात्तता, मर्मस्पर्शी भाव-व्यंजना, वर्णन की प्रचुरता, रसपरिपाक, सफल अलंकार-योजना और सांस्कृतिक समन्वय की भावना तथा प्रेम की व्यापक व्यंजना आदि बातों का समावेश कर कवि ने ग्रंथ को महाकाव्य की गरिमा से भर दिया है।

इस ग्रंथ में कुछ दोष भी हैं जिसके लिए कवि को यद्यपि क्षमा नहीं किया जा सकता, तथापि प्रेम की व्यापकता और अन्यान्य विशेषताओं के सम्मुख वे दोष नगण्य हो जाते हैं। भाषा, भाव शैली सभी दृष्टियों से यह ग्रंथ अनुपमेय बन पड़ा है। तत्कालीन परिस्थितियों और सांस्कृतिक माँग के अनुसार कवि की यह देन अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। कवि ने इस ग्रंथ का प्रणयन करके प्रेमाख्यानक हिन्दी-काव्य परम्परा को अत्यन्त गौरव प्रदान किया है। इस दृष्टि से उसका स्थान अन्यतम है



महाकवि जायसी और तुलसी

महाकाव्यकार जायसी और तुलसी दोनों भक्तिकाल के श्रेष्ठ कवि हैं। जायसी ने निर्गुण भक्ति की प्रेमाश्रयी शाखा का प्रतिनिधित्व किया और तुलसी ने सगुण भक्ति की राममार्गी शाखा का। मुसलमान के घर में जन्म लेने के कारण जायसी में मुस्लिम संस्कार और हिन्दू (ब्राह्मण) घर में जन्म लेने के नाते तुलसी में आर्य जाति के संस्कार विद्यमान थे। दोनों कवियों ने अपने-अपने धर्म, भक्ति और विचारों के प्रतिपादन के साथ-साथ हिन्दी को अनुपम काव्य-ग्रंथ भेंट किये, जिससे भारती के भंडार में स्थायी वृद्धि हुई। दोनों का युग परिस्थितियों की दृष्टि से एक ही था, किन्तु जायसी तुलसी के पूर्ववर्ती और तुलसी जायसी के परवर्ती थे। इन दोनों के व्यक्तित्व तथा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए हम अध्ययन की सुविधानुसार निम्नलिखित बिन्दु निश्चित करते हैं—

१. युग और आविर्भावकालीन परिस्थितियाँ।
२. बाल्यकाल तथा शिक्षा-दीक्षा।
३. प्रणीत काव्य-ग्रंथ और उनके विषय।
४. ग्रंथों का समग्रतः साहित्यिक मूल्यांकन।
५. समाज, धर्म और राजनीति विषयक विचार।
६. विशिष्टताएँ और परम्परा में स्थान।

युग और आविर्भावकालीन परिस्थितियाँ

युग की दृष्टि से वह भक्ति युग था। राजनीतिक वातावरण शांत हो चुका था। विजयी मुसलमानों ने हिन्दुओं के उत्साह की कमर तोड़ दी थी और उनमें मुसलमानों से लोहा लेने का साहस नहीं रह गया था। विजेता मुस्लिम जाति को यहाँ आये अब काफी दिन हो गये थे, इसलिए हिन्दुओं को उनके साथ रहने का अभ्यास हो चला था। फलस्वरूप दोनों एक-दूसरे के आचार-विचार, रहन-सहन तथा व्यक्तित्व और धर्म आदि से परिचित हो चले थे। संघर्षों से दोनों ऊब गए थे और अब वे शान्त तथा निर्विघ्न जीवन के लिए लालायित थे। परस्पर समझौते की भावना बढ़ती जा रही थी, परन्तु दोनों के मूल संस्कारों की भिन्नता ज्यों-की-त्यों थी। धार्मिक क्षेत्रों में दोनों जातियों के बीच काफी संघर्ष था। अनेक सम्प्रदाय

और विविध प्रकार के धार्मिक विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाले नेता अपनी-अपनी करामातें दिखा रहे थे जिससे शान्ति का प्यासा जन-हृदय एक विचित्र मृग-मरीचिका में उलझा हुआ दुसह व्यथा का अनुभव कर रहा था। प्रतिभाशाली, स्पष्ट विचारों से युक्त और समरस भाव से आकुल जन-हृदय को शान्ति प्रदान करने वाले नेताओं की आवश्यकता थी। सामाजिक दुर्व्यवस्था अपनी चरम सीमा पर थी। उसकी विशृंखलता को एक सूत्र में पिरोने वाले नायक का अभाव था। ऊँच-नीच और छोटे-बड़े आदि की भावना प्रबल रूप धारण करके समाज को विकृत कर रही थी। साहित्य का स्वरूप भी स्थिर न था उसे सुनिश्चित दिशा देने वाले मेधावी कलाकारों की अपेक्षा थी। उस युग का इन्हीं विषम-परिस्थितियों के बीच कालान्तर से कविवर मलिक मोहम्मद जायसी और गोस्वामी तुलसीदास ने जन्म लिया।

बाल्यकाल तथा शिक्षा-दीक्षा

बाल्यकालीन जीवन दोनों कवियों का विचित्रताओं से युक्त था, जिनके बारे में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। यहाँ हम व्यर्थ उन किंवदन्तियों की सत्यता-असत्यता की गहराई में न जाकर एक वाक्य में इतना ही कहना चाहेंगे कि दोनों की बाल्यवस्था अनाथों की-सी बीती जिसमें अपेक्षाकृत तुलसी का जीवन अधिक कष्टमय रहा। स्वयं तुलसी के शब्दों में—

“मातु-पिता जग जाय तउयो, बिधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।”

“बारे ते सलात बिललात द्वार बीन-बीन,
जानत हौं चारिफल चारि ही चनक कों।”

जहाँ तक शिक्षा-दीक्षा का प्रश्न है, उस समय दोनों उपयुक्त सुविधाओं से वंचित रहे और जायसी को तो यह अभाव जीवन-पर्यन्त ढोना पड़ा। धीरे-धीरे वयस्क होने के साथ-साथ उनके जीवन की दिशाएँ भी बदली। युवाकाल में पत्नी रत्नावली के मर्मभेदी शब्द-बाणों से घायल होकर तुलसी ने वैराग्य ले लिया और ज्ञान-तृष्णा की शान्ति-हेतु सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान-पीठों एवं तीर्थ स्थानों का परिभ्रमण करते रहे और अन्त में वाराणसी में गुरु शेष सनातन के चरणों में बैठकर, १५ वर्ष तक साहित्य तथा धर्मादि का अनवरत गम्भीर अध्ययन किया। तत्पश्चात् महाकवि के रूप में सृजन-तूलिका उठाई। प्रतिकूल परिस्थितियों का शिकार जायसी का बाल्यकालीन जीवन विधिवत् शिक्षा-ज्ञान का सौभाग्य प्राप्त न कर सका। फलतः विवश होकर विश्व की खुली पाठशाला में उसे अनुभव ज्ञान का अवलम्बन लेना पड़ा। डा० जयदेव के शब्दों में—

“बालक जायसी अनाथावस्था में इधर-उधर मारा-मारा फिरा। अतः उस को स्कूलीय शिक्षा प्राप्त करने का अवसर न मिला, किन्तु ईश्वर प्रबल धारणा शक्ति

का पूर्णोपयोग उसने किया। उसकी पाठशाला प्रकृति का व्यापक क्षेत्र था, उसके शिक्षक सांसारिक घटनाएं और व्यापार थे, सहपाठी ज्ञानेन्द्रियाँ और सत्संग थे तथा पुस्तक निर्मल हृदय था जिसमें अनुभूत व्यापारियों का पारायण होता रहता था। इस प्रकार मननशील जायसी युवावस्था तक शिक्षा प्राप्त कर संसार के समक्ष आया। ऐसे ही निरक्षर सम्राट् अकबर को संसार ने विद्वान् माना और उसकी विद्वत्ता को सराहा था।”

पूणति काव्य-ग्रन्थ और उनके विषय

जायसी के काव्य-ग्रन्थों की सूची अन्य कवियों की भाँति लम्बी बताई जाती है, किन्तु मान्यता अभी प्रमुख रूप से केवल तीन ग्रंथों को ही मिल सकी है—

आखीरी कलाम, पद्मावत और अखरावट।

तुलसीदास के निम्नलिखित ग्रंथों को मान्यता मिली हुई है—

१. रामचरितमानस (सं० १६३१), २. दोहावली (सं० १६४०),
३. कवित्त रामायण (सं० १६६५-७१), ४. गीतावली (सं० १६२७)
५. कृष्ण गीतावली (सं० १६२८) ६. विनयपत्रिका (सं० १६४२), ७. रामलला नहछू (सं० १६०३), ८. वैराग्य संदीपनी (सं० १६६६), ९. बरवै रामायण (सं० १६६६), १०. पार्वती मंगल (सं० १६४३), ११. जानकी मंगल (सं० १७४३), १२. रामाज्ञा प्रश्न (सं० १६६६)।

जहाँ तक इन ग्रंथों के वर्ण्य-विषय का प्रश्न है, भक्तिकाल में जन्म लेने के नाते सामान्यतया दोनों ने भक्ति एवं धर्म सम्बन्धी विचारों को प्रधानता दी। साथ ही काव्यकला का चरम उत्कर्ष भी प्रकट किया। वैसे तुलसी साहित्य में विविध विचारों का अक्षय भंडार है, किन्तु प्रमुखता जायसी की भाँति धार्मिक विचारों की ही है।

दोनों की कृतियों का साहित्यिक मूल्यांकन करते समय सबसे पहला विचार जो हमारे मस्तिष्क में आता है, वह यह कि दोनों ही महान् प्रतिभाशाली विचारक और भावुक भक्त हृदय सम्पन्न महाकवि हैं, प्रेम के अनन्य पुजारी हैं, अपने-अपने धर्म के अन्धविश्वासी हैं, मानव चरित्र के कुशल पारखी और जीवन के सूक्ष्म द्रष्टा हैं।

साहित्यिक मूल्यांकन

काव्य के दो पक्ष होते हैं—भावपक्ष और कलापक्ष। भावपक्ष में कल्पना तत्व, बुद्धितत्व तथा रागात्मक तत्व का समावेश होता है और कलापक्ष में छन्द, भाषा, शब्द और अलंकार योजना, लोकोक्तियाँ तथा मुहावरों आदि का प्रयोग। इस दृष्टि से दोनों कलाकारों ने महान् मेधा शक्ति और सफल कवि-कर्म का परिचय

या है। भाव तथा कलापक्ष के समस्त तत्वों का समुचित और मूल्यांकन की कसौटी र खरा उतरने वाला प्रयोग किया है। दोनों महान् प्रतिभाशाली हैं जिनके हृदय। भावुकता एक दूसरे से होड़ करती हुई आगे चलती है।

छन्दों में जायसी ने 'आखरी कलाम' और 'पद्मावत' में दोहे चौपाइयों का प्रयोग किया है, किन्तु अखरावट में दोहे-चौपाइयों के साथ-साथ सोरठे का भी प्रयोग। तुलसी ने अपने समय की प्रचलित सभी काव्य-शैलियों में रचनाएँ कीं। चन्द के प्यय, कबीर के दोहे, सूरदास के पद, जायसी की दोहा-चौपाइयाँ, रहीम के बरवें या राज दरबारों में प्रचलित कवित्त-सवैया आदि सभी पद्धतियों को अपने काव्य स्थान दिया। इस दृष्टि से वे प्रतिनिधि कवि हैं।

भाषा के क्षेत्र में तुलसी का अवधी और ब्रजभाषा दोनों पर समान अधिकार, परन्तु जायसी का केवल अवधी पर ही। तुलसी के 'रामचरित मानस' में पश्चिमी वधी का साहित्यिक रूप मिलता है और बरवें रामायण में पूर्वी अवधी का। जायसी बोल-चाल की ठेठ पूर्वी अवधी का प्रयोग किया है। तुलसी की भाषा में जो प्रांज-ता है वह जायसी की भाषा में नहीं है। तुलसी की भाषा भावानुसारिणी, ओज और माधुर्य से परिपूर्ण है। यत्र-तत्र फारसी और अरबी तथा बुन्देलखण्डी के भी बंद पाये जाते हैं। जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है, पर उसका माधुर्य "भाषा। माधुर्य है। संस्कृत का माधुर्य निराला है। वह संस्कृत की कोमल-काँत पदावली र अवलम्बित नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए। 'मजु, अमन्द' आदि की चासनी उसमें नहीं है। जायसी की भाषा और तुलसी की भाषा में यही बड़ा भारी अन्तर है। जायसी की पहुँच अवध में प्रचलित लोक-भाषा के भीतर बहते हुए माधुर्य स्रोत तक ही थी, पर गोस्वामी जी की पहुँच दीर्घ-स्कृत-कवि-परम्परा द्वारा परिपक्व चाशनी भांडागार तक भी पूरी-पूरी थी। दोनों भिन्न प्रकार के माधुर्य का अनुमान नीचे उद्धृत चौपाइयों से हो सकता है—

"जब-हुँत कहि गा पंखि संदेशी । सुनिउँ को आवा है परदेसी ॥
तब-हुँत तुम बिन रहै न जीऊ । चातक भइउँ कहत 'पिउ-पीऊ' ॥
भइउँ चकोरि सो पथ निहारी । समुद सीप जस नयन पसारी ॥
भइउँ विरह जरि कोइल कारी । डारि-डारि जिमि कूकि पुकारी ॥"

—(जायसी)

"अमिय-सूरि-मय चूरन चारू । समन सकय भवरुज-परिवारू ॥
सुकुत संभु तन विमल विभूती । मजुल मगल मोद प्रसूती ॥
जन-मन-मंजु-मुकुर मल हरनी । किए तिलक गुनगन बस करनी ॥

श्री गुर-पद-नख-मनि-गन-जोती । सुमरत विषय दुष्टि हिय होती ॥”

—(तुलसी)

यदि गोस्वामी जी ने अपने “मानस” की रचना ऐसी ही भाषा में की होती जैसी की इन चौपाइयों में की है—

“कोउ नृप होय हमैं का हानी । चेरि छाँड़ि अब होब की रानी ? ॥

जारैं जोग सुभाउ हमारा । अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥”

तो उन की भाषा पद्यावत ही की भाषा होती और यदि जायसी ने सारी “पद्यावत” की रचना ऐसी भाषा में की होती, जैसी कि इस चौपाई की है—

“उबधि आइ तेइ बंधन कोन्हा । हति बशमाथ अमर पद बीन्हा ।”

तो उसकी और “रामचरितमानस” की एक भाषा होती, पर जायसी में इस प्रकार की भाषा कहीं ढूँढने से एकाध जगह मिल सकती है । तुलसीदास जी में ठेठ अवधी की मधुरता भी प्रसंग के अनुसार जगह-जगह मिलती है । सारांश यह है कि तुलसीदास जी का दोनों प्रकार की भाषाओं पर अधिकार था और जायसी का एक ही प्रकार की भाषा पर । एक ही ढंग की भाषा की निपुणता उनकी अनूठी थी । अवधी की खालिस, बे-मेल मिठास के लिए पद्यावत का नाम बराबर लिया जायगा ।

तुलसी की शब्द-योजना बड़ी ही मनोहर और सशक्त है । वाक्य रचना व्यवस्थित और आकर्षक है । जायसी की वाक्य-रचना स्वच्छ होने पर भी तुलसी के समान सुव्यवस्थित नहीं । न्यूनपदत्व के वाक्य दोष अधिक हैं । शब्द योजना भी उतनी सशक्त नहीं । लोकोक्तियों और मुहावरों का दोनों कवियों ने सफल प्रयोग किया है । अलंकारों में भी दोनों कवि परम्परा के पालक ही अधिक हैं ।

रसों में तुलसी का नवों रसों पर पूर्ण अधिकार है परन्तु जायसी का नहीं । शृंगार, करुण और वीर रसों के चित्रण में ही उन्हें अधिकाधिक सफलता मिल सकी है । शृंगार में वियोग-शृंगार जायसी का बड़ा ही मार्मिक है । नागमती के विरह वर्णन में न केवल पाठक, वरन् सम्पूर्ण प्रकृति संवेदनशील हो उठी है और पशु-पक्षियों के दृगों से भी अश्रुप्रवाहित हो चलता है । ‘पद्यावत्’ रतिभाव का अगाध सागर है, शृंगार रस का महाकाव्य है ।

कल्पना की विलक्षणता दोनों कवियों में अपूर्व है । कोई किसी से घटकर नहीं । हाँ, तुलसी सोन्दर्य और मर्यादा को कभी नहीं भूलते ।

बुद्धितत्व अपेक्षाकृत जायसी से तुलसी में अधिक है । वे मर्यादावादी आदर्श विचारों के सुधारवादी कवि हैं । जायसी इसके विपरीत अपनी प्रेम पीर के अमर गायक ही हैं । जहाँ तक विचारों की बात है, तुलसी के साहित्य में जीवन और जगत

के विविध अंगों पर पांडित्यपूर्ण प्रकाश डाला गया है। जायसी में विचारों की उस व्यापकता का अभाव है। शायद उन्होंने इसकी आवश्यकता ही न समझी हो, क्योंकि वे प्रेम-मार्ग के धीरे पथिक थे। उन्हें अपनी पीर की गहराई और व्यापक संवेदन-शीलता की विवेचन सीमा से बाहर निकल जीवन और जगत् को इतनी खुली छाँवों से देखने का अवकाश ही न मिला; अथवा अपने लक्ष्य की तन्मयता में डूबे रहने के कारण उन्होंने इधर देखा ही नहीं। वे अपनी धुन में ही चलते गये। उन्हें तुलसी की भाँति समाज की कोई चिन्ता न थी और न भविष्य के लिए उन्हें कोई सामाजिक आदर्श ही छोड़ जाना था।

समाज, धर्म और राजनीति

तुलसीदास को लोक और शास्त्र का व्यापक ज्ञान था। इसीलिये वे अपने सम्पूर्ण साहित्य में समन्वय की चेष्टा में रत दिखाई देते हैं। लोक और शास्त्र का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, कथा और तत्त्वज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चाँडाल का समन्वय, पाँडित्य और अपाँडित्य का समन्वय आदि से उनका 'राम-चरितमानस' भरा हुआ है। वे आदर्शवादी थे और अपनी रचनाओं में भावी समाज का ढाँचा उपस्थित करने में प्रयत्नशील रहे। यही कारण है कि उनके पात्रों के आचरण में कोई न कोई समाज सृष्टि का विशेष लक्ष्य होता है। उनका प्रत्येक पात्र किसी न किसी सामाजिक भावना का प्रतिनिधित्व करता है।

जायसी ने मानव-जीवन की सामाजिक एवं नैतिक भावनाओं का अपने काव्य में शून्यवत् ज्ञान दिया है। इसका प्रधान कारण यह है कि जायसी ने तुलसी की भाँति समाज सुधारक और नीति व्यवस्थापक तथा किसी प्रकार की जातिगत मर्यादा को ध्यान में रखकर अपने काव्य की सृष्टि नहीं की। उन्हें न किसी लोकव्यापी आदर्श की प्रतिष्ठा करनी थी और न भावी समाज का ढाँचा ही तैयार करना था। वे तो प्रेम की पीर के गायक थे जिसमें 'हाल' आता है; वेदना और तड़प होती है। लौकिक प्रेम उनके उस प्रेम के प्राप्त करने का सोपान है। लौकिक प्रेम के उत्कर्ष में ही उन्हें दिव्य प्रेम की अनुभूति होती है। नैतिकता का बन्धन इस मार्ग में बाधक है। वे लौकिक प्रतिबन्धों से परे मूक हृदय से खेलते हुए अपने उस परम-प्रियतम के एकनिष्ठ और दिव्य प्रेम को प्राप्त कर लेना चाहते हैं। इसके विपरीत तुलसी के प्रेम में मर्यादा है, उच्छृंखलता और अनैतिकता को वहाँ बिल्कुल स्थान नहीं है। मर्यादा से गिरा हुआ प्रेम—प्रेम की संज्ञा को सार्थक नहीं करता, वह हेय है और उसे वासना की कोटि में स्थान मिलना चाहिए। तुलसी के प्रेम में श्रद्धा का सम्मिश्रण है, जिसने उनके प्रेम को महान् गम्भीरता प्रदान की है।

जायसी ने समाज विषयक यत्र-तत्र जो चर्चाएँ की हैं, वे उनके कथा के

मसंगवश हैं, किसी सामाजिक दृष्टि से नहीं। राजनीतिक विचारों की ओर से जायसी बहुत उदासीन हैं मसनवी शैली के अनुसार ग्रन्थ रचने के कारण अपने "पद्मावत" में उन्होंने शाहेवकत (शेरशाह) की प्रशंसा अवश्य की है, पर वह परम्परा पालन मात्र ही है। उससे देश की तत्कालीन राजनीतिक दशा पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। जहाँ तक भक्ति और साधना विषयक प्रश्न हैं, जायसी मुसलमान सूफी भक्त कवि थे, किन्तु उनके काव्य पर हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों की छाप है। वे उदार हृदय और विधि पर पूरी आस्था रखने वाले हैं। वेद, पुराण, कुरान आदि उनकी दृष्टि में कल्याणकारी हैं। वेद विरोधियों के लिए उनका कहना था—

“वेद बचन मुख सांच जो कहा। सो जुग जुग अहि थिर ह्व रहा।”

अपनी साधना में उन्होंने सभी धर्मों से कुछ न कुछ लिया है। उपासना के क्षेत्र में वे भगवान के निर्गुण रूप के उपासक थे, किन्तु सूफी सिद्धान्तों की ओर झुकाव होने के कारण उनकी उपासना में साकारोपासक की सहृदयता पाई जाती है। सूफी-धर्म उनका अभीष्ट धर्म था और सूफी साधना ही उनकी अभीष्ट साधना थी।

इसके विपरीत तुलसीदास आर्य संस्कारों से सम्पन्न वैष्णव भक्त थे। नवधा भक्ति उनकी वैष्णव साधना के प्राण के रूप में प्रतिष्ठापित हुई है। भगवान राम की सगुणोपासना करते हुए उन्होंने जन-जन को नवधा भक्ति का संदेश दिया और समाज में वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था करते हुए हिन्दू जाति में आर्य-गौरव का महामन्त्र जगाया। उनके राम की साकार उपासना से उनका ‘राम नाम’ अधिक महत्वशाली है वे रूप की अपेक्षा नाम को श्रेष्ठ बताते हैं, क्योंकि—

“राम एक तापत तिय तारी।
नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥”

यह नाम की महिमा है जो निर्गुण और सगुण दोनों उपासकों के बीच समान आदर पाती है (शक्ति, शील और सौन्दर्य से समन्वित उनके मर्यादा पुरुषोत्तम ब्रह्म होने के साथ-साथ सामान्य मानव के रूप में भी आचरण करते हैं और लोक-प्रादर्श की प्रतिष्ठा करते हैं) जायसी के रत्नसेन या पद्मावती द्वारा इस प्रकार की आशा हम नहीं कर सकते। मानव जीवन की जितनी विविध दशाओं का चित्रण तुलसी ने किया है जायसी उतनी सोच भी नहीं सके हैं। प्रेम मार्ग में जिनसे उनका सम्बन्ध हुआ केवल उन्हीं की चर्चा उनको अभीष्ट जान पड़ी।

जायसी भी धार्मिक प्रवक्ता हैं और तुलसी भी, किन्तु तुलसी के प्रवचन में आकर्षण है, व्यापकता और समन्वयात्मकता है, जायसी में इस्लामियत अथवा सूफी मत विशेष की ही स्पष्ट गन्ध है। उसमें जातीयता का संकोच है।

संस्कृति के पोषक के रूप में आचार्य तुलसी अमर हैं। दोनों में समन्वय की भावना है। जायसी सांस्कृतिक समन्वय के लिए कुछ अधिक प्रयत्नशील हैं। भारत की संस्कृति शाश्वत संस्कृति है, इस नाते तुलसी का अपेक्षाकृत कुछ स्वतन्त्र

होना स्वाभाविक है (वैसे तुलसी अपनी संस्कृति के महान पुनरुद्धारक के रूप में प्रसिद्ध हैं और इसी नाते बुद्ध के बाद उन्हें ही लोकनायक की उपाधि मिली, क्योंकि उनमें सब प्रकार के भावों के प्रतिनिधित्व और समन्वय करने की क्षमता थी)। जायसी ने भी भारतीय कलेवर में सूफी आत्मा को सजाया और उससे अपनी संस्कृति के मधुर बोल सुनवाये, पर उनका जादू भारतीयों के बीच उतना प्रभावशाली न हो सका।

विशिष्टताएँ

महाकाव्य के समस्त लक्षणों के अनुसार दोनों ने क्रमशः अपने 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' को श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न किया है। अपनी विशिष्टताओं के कारण 'रामचरितमानस' हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। 'पद्मावत' का स्थान हिन्दी में दूसरा है, पर यह भी सत्य है कि 'रामचरितमानस' के प्रणेता में भाषा-भाव और विचारों की श्रेष्ठता तथा व्यापकता भले ही अधिक हो, किन्तु प्रेम की वह एकनिष्ठता तथा गहराई नहीं जो पद्मावत के प्रणेता जायसी में है। चतुर्दिक सतर्क रहने के कारण गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि निर्विवाद सिद्ध होते हैं और एकांगी दृष्टि रखने के कारण जायसी को उनकी श्रेणी के काव्यकारों में द्वितीय स्थान मिलता है। दोनों महाकवियों ने अपनी-अपनी पावन वाणी से साहित्य की जो श्री-वृद्धि की है, उसके लिए हिन्दी आजीवन ऋणी रहेगी। 'पद्मावत' हिन्दी का प्रथम सफल महाकाव्य है। तुलसी काव्य के क्षेत्र में पद्मावत के पथ अनुगामी हैं। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार एक महान प्रतिभा सम्पन्न विनयशील मेधावी महाकवि के रूप में जायसी अमर हैं और हिन्दी काव्य बाग़ के पूषीवर्षी इन्द्र तुलसी की गरिमा तो कहना ही क्या !

महाकवि जायसी और कबीर की रहस्य-भावना

[रहस्यवाद की कोई स्वतन्त्र परिभाषा नहीं। वह मनोरंजक होते हुए भी बड़ा दुस्साध्य विषय है। उसका विस्तार सागर की भाँति सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में फैला हुआ है। अगणित कवियों के हृदय से उसकी अजस्र धारा प्रवाहित हुई है, जिसके कल-कल निनाद में उन्होंने अलौकिक संगीत का अनुभव किया है। वे उसमें खो गए हैं, अपना भौतिक अस्तित्व भुला बैठे हैं।]

परिभाषा

योगी और यति आदिकाल से ही उसे समझने का प्रयास करते चले आ रहे हैं, परन्तु किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। रहस्य, रहस्य ही बना रह गया। उसे बाणी न मिल सकी; और जो मिली भी वह अटपटी तथा कहीं-कहीं अत्यन्त ही भावात्मक और स्निग्ध पारे की-सी गतिमान। बड़े-बड़े मनीषियों और तत्त्व चिन्तकों की जब यह दशा है तो सामान्य बुद्धि की तो बात ही क्या हो सकती है! फिर भी जिज्ञासु मन को आश्वस्त करने के लिए विद्वानों ने रहस्यवाद को यथासम्भव परिभाषाओं की डोर में बाँधने के प्रयत्न किये हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—

‘रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ अन्तर ही नहीं रह जाता है।’

—डा० रामकुमार वर्मा

‘साधना के क्षेत्र में जी अद्वैतवाद है काव्य के पक्ष में वही रहस्यवाद है।’

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

“रहस्यवाद साहित्यिक धारणाओं और मान्यताओं के अनुसार उस मनः प्रवृत्ति का प्रकाशन है जो अव्यक्त और सर्वव्यापी ब्रह्मवाद से परिचित होने के लिए प्रयास करती है। यह प्रवृत्ति मन का गुण है इसका प्रकाशन काव्य में होता है। यह प्रयास जिस भाव साधना के सोपानों से अग्रसर होता है, वह एक उच्च स्तर की मानसिक स्थिति होती है। यह स्थिति साधारण जन के लिए रहस्य है।”

—डा० मुन्शीराम शर्मा

“रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने

समीप और पार्थिव स्थिति से उस असीम एवं स्वर्गिक महा अस्तित्व के साथ एकात्म-कता का अनुभव करने लगता है ।” —गंगाप्रसाद पाण्डेय

एक वाक्य में हम यों कहेंगे कि आत्मा और परमात्मा का सीधा सम्बन्ध जब काव्यमयी भाषा में व्यक्त होता है, तो उसे साहित्य में रहस्यवाद के नाम से पुकारा जाता है। उस अप्राप्य ब्रह्म अथवा अज्ञात -- अव्यक्त चरम सीमा सत्ता को प्राप्त तथा व्यक्त करने के लिए मानव हृदय व मन ने जो निरन्तर प्रयत्न किये हैं उसे ही रहस्यवाद की परिभाषा मिली है।

अद्वैतवाद

इस रहस्यवाद में अद्वैतवाद की भावना काम करती है। ‘अहं ब्रह्माऽस्मि तथा ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ की अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद का आधार है। ब्रह्म और जीव तथा ब्रह्म और जगत की एकता रहस्यवाद के दो छोर हैं। इसी तथ्य की पृष्ठ-भूमि में अनेक तत्त्वचिन्तकों और काव्य-मनीषियों ने उसे विविध दिशाओं देने का प्रयत्न किया है। अद्वैतवाद के दोनों पक्ष मिलकर ‘सर्ववाद’ की प्रतिष्ठा करते हैं।

भारतीय सन्तों और भक्तों ने अपनी साधना के लिए पहले पक्ष के लिए अधिक महत्व दिया है, परन्तु दूसरे पक्ष की अनुभूति के बिना उसकी व्यापक भावना को पूर्णता नहीं मिलती। प्रकृति की प्रत्येक विभूति में, संसार के प्रत्येक कोमल और कठोर, प्रीतिकर और भयंकर कार्य-व्यापार में उन्हें इस व्यक्त और परोक्ष सत्ता का आभास मिलता है। डा० सुधीन्द्र के शब्दों में—‘पहले पक्ष को लेकर भारत और फारस में सूफी और योग मार्ग चले हैं। उन पथों और मार्गों पर चलने वालों का अन्ततः अपनापन खुदा या बन्दे में लय करना ही लक्ष्य है। दूसरे पक्ष को लेकर भावुक हृदय में एक भावलोक की सृष्टि हुई जिसमें कहीं ईश्वर को सबव्यापक मानकर प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ, घटना और व्यापार में उसकी विभूति और व्यापारों का दर्शन है, तो कहीं ईश्वर को प्रेममय, प्रेमरूप मानकर उसकी लीला का प्रसार है। इसी की परिणति एक विशा में माधुर्य भावना में हो जाती है।”

रहस्यवाद के भेद

आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद के दो भेद किए हैं—साधनात्मक और भावात्मक।
साधनात्मक रहस्यवाद—जिस रहस्यवाद का आधार योग है वह साधनात्मक रहस्यवाद है। साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत योग के अप्राकृतिक और जटिल आसन त्रिकोण, तप और कायाकण्ठ आदि हैं। इसमें बरबस इंद्रियों का दमन किया जाता है और इस प्रकार साधक मन को अव्यक्त तथ्यों का साक्षात्कार तथा अनेक प्रलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करता हुआ भगवान के निकट पहुँचने का प्रयत्न करता है।

तन्त्र और रसायन भी साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत ही आते हैं पर उनका स्तर अपेक्षाकृत निम्न है।

भावात्मक रहस्यवाद—जिसका आधार भक्ति या सूफी-प्रेम-सिद्धान्त है, उसे भावात्मक रहस्यवाद कहते हैं। भावात्मक रहस्यवाद की कई श्रेणियाँ हैं जिसमें से किसी एक रहस्य-भावना को आधार मानकर भक्त सरल एवं मधुर भाव से अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। भक्त और साधक में अगाध विश्वास तथा आत्म-समर्पण की भावना बड़ी प्रबल रहती है। इस रहस्यवाद के अन्तर्गत अद्वैत ब्रह्म की ही कल्पना होती है।

रहस्यवाद की परम्परा

अद्वैतवाद का प्रतिपादन सर्वप्रथम उपनिषदों में मिलता है। उपनिषद भारतीय ज्ञानकाण्ड के मूल हैं। अद्वैतवाद की पृष्ठभूमि में एक दार्शनिक सिद्धान्त है, कवि कल्पना या भावना नहीं। वह मनुष्य के तत्त्वचिन्तन और बुद्धि के प्रयास का फल है।

इस ज्ञान का उदय प्रेमोन्माद या इलहाम के रूप में नहीं हुआ था। वस्तुतः अद्वैतवाद चिन्तन की वस्तु है, भावनामात्र की नहीं। ब्रह्म जीव तथा प्रकृति के रहस्यों को समझने के पश्चात् मनीषियों ने उसके उद्घाटन के जो विविध मार्ग अपनाये उसमें भावना को स्थान मिला। रहस्यवादी भावना भी उद्घाटन के विविध मार्गों में से एक है।

गीता के दसवें अध्याय में सर्ववाद का जो अद्वैतवाद का विकसित रूप है, उसका भावात्मक प्रणाली पर निरूपण हुआ है। वहाँ भगवान ने विभूतियों का जो वर्णन किया है वह अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। सर्ववाद को लेकर जब भक्त की मनोवृत्ति रहस्योन्मुख होगी, तब वह स्वयं को जगत के नाना रूपों के सहारे उस परोक्ष सत्ता की ओर ले जाता हुआ जान पड़ेगा। इस आधार पर अवतारवाद का मूल भी रहस्य भावना ही ठहरती है, परन्तु रहस्यवाद के सिद्धान्त रूप में गृहीत हो जाने पर तथा राम-कृष्ण के ईश्वर-विष्णु के अवतार निश्चित हो जाने पर यह रहस्य दशा समाप्त हो गई।

श्रीमद्भागवत के उपरान्त कृष्ण-भक्ति को जो रूप प्राप्त हुआ, उसमें रहस्य भावना को प्रस्थ-मिला। भक्तों की दृष्टि से कृष्ण का लोक-संग्रही रूप हटने लगा और वे प्रेम-मूर्ति मात्र रह गये। भक्त उन्हें अपने निजी दृष्टिकोण से देखने लगे। गोपियों का प्रेम जिस प्रकार एकान्त और रूप माधुर्य मात्र पर अश्रित था, उसी प्रकार भक्तों का भी होने लगा। यहाँ तक कि कुछ स्त्री-भक्तों ने भगवान की कल्पना प्रियतम के रूप में की। बड़े-बड़े मन्दिरों और देवदासियों की जो प्रथा थी, उससे इस माधुर्य भाव को और भी सहारा मिला (माता-पिता कुमारी लड़कियों को दान कर आते थे, जहाँ उनका विवाह देवता के साथ हो जाता था। उनकी भक्ति देवता को

पति रूप में मानकर ही विकसित हुई। इस पति या प्रियतम के रूप में भगवान की भावना को वैष्णव भक्तिमार्ग में 'माधुर्य भाव' कहते हैं। इस भाव की उपासना में रहस्य का समावेश अनिवार्य रूप से रहता है।

स्वभाव से भारतीय भक्ति रहस्यात्मक नहीं है। इस नाते इस भावना का अधिक प्रचार न हो सका। हाँ, जब सूफी भारत में आये तो उनका प्रभाव भारतीय भक्तों पर पड़ा। मीराबाई ने ऐसे भक्तों का प्रतिनिधित्व किया। चैतन्य महाप्रभु की मण्डली सूफियों की भाँति ही कीर्तन करते-करते मूर्छित हो जाती थी। भारतीय भक्ति भावना पर सूफियों के प्रभाव सम्बन्धी विचारों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत द्रष्टव्य है:—

“मुसलमानी जमाने में सूफियों की देखा-देखी इस भाव की ओर कृष्ण-भक्ति शाखा के कुछ भक्त प्रवृत्त हुए। इनमें मुख्य मीराबाई हुई जो लोक-लाज खोकर अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रेम में मतवाली रहा करती थी। उन्होंने एक बार कहा था कि 'कृष्ण को छोड़ पुरुष है कोन ?' सारे जीव स्त्री रूप हैं।”

सूफियों का असर कुछ और कृष्ण भक्तों पर भी पूरा-पूरा पाया जाता है। चैतन्य महाप्रभु में सूफियों की प्रवृत्तियाँ साफ झलकती हैं। जैसे सूफी कव्वाल गाते हुए 'हाल' की दशा में हो जाते हैं वैसे ही महाप्रभु जी की मण्डली भी नाचते-नाचते मूर्छित हो जाती है। यह मूर्छा रहस्यवादी सूफियों की रूढ़ि है। इसी प्रकार मद, प्याला, उन्माद तथा प्रियतम ईश्वर के विरह की दूररूढ़ व्यंजना भी सूफियों की बंधी परम्परा है। इस परम्परा का अनुसरण भी पिछले कृष्ण भक्तों ने किया। नागरीदास इस्क का प्याला पी-पीकर भूमा करते थे। कृष्ण की मधुर मूर्ति ने कुछ आजाद सूफी फकीरों को भी आकर्षित किया। नजीन अकबरावादी ने खड़ी बोली के अपने बहुत से पद्यों में श्रीकृष्ण का स्मरण प्रेमालंबन के रूप में किया है।

(निर्गुण शाखा के कबीर, दादू आदि सन्तों की परम्परा में ज्ञान का थोड़ा बहुत अवयव है, वह भारतीय वेदान्त का है; पर प्रेम-तत्त्व बिल्कुल सूफियों का है। इनमें से दादू, दरिया साहब आदि तो खालिस सूफी ही जान पड़ते हैं। कबीर में माधुर्य भाव जगह-जगह पाया जाता है।)

इस तरह हम देखते हैं कि भावात्मक रहस्यवाद का प्रभाव हमारे कबीर परम्परा सन्त कवियों तथा कृष्ण भक्ति शाखा के भक्तिमार्गी वैष्णव कवियों दोनों पर था। इसके साथ-साथ मुसलमानों की सूफी धारा भी देश में प्रवाहित हो रही थी, जिसकी विचारधाराओं के मूल में भी हमें इसका आभास मिलता है।

इसी क्रम में श्री यज्ञदत्त शर्मा जी ने लिखा है— 'साधनात्मक रहस्यवाद का सम्बन्ध ज्ञान मिश्रित हठयोगी भावना और ब्रह्म की कल्पना से है। हठयोगी, तन्त्र,

रसायन इत्यादि की बातें भी साधारण मस्तिष्क के लिये रहस्य की बातें हैं। साधक अपनी साधना के चमत्कार से कुछ विशेष बातें प्रदर्शित करता है, तो वह जनता के लिये रहस्य का विषय है। इन सबका वर्णन और फिर कल्पनात्मक वर्णन, बस यही साधनात्मक रहस्य का विषय है। कबीर ने भारतीय ज्ञान विचारावलि अर्थात् वेदान्त और सूफी प्रेम का सम्मिश्रण करके जिस रहस्यवाद की सृष्टि की उसे हम अधिक बल के साथ साधनात्मक रहस्यवाद ही कहेंगे। इंगला, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ी और शरीर के भीतरी चक्रों की चर्चा इस रहस्यवादी धारा में मिलती है। इस विचार-धारा में ईश्वर को केवल मन के अन्तर खोजने की भावना रहती है।^{११} आगे वे फिर लिखते हैं—

“भारतीय भक्त इस काल में ईश्वर की खोज अपने मन में नहीं करता था। भारत में अवतारवाद का प्रचार था और भक्त अपने उपास्य को दिल के एकान्त कोने में प्रतिष्ठित न करके उसे बहिरांग में प्रतिष्ठित करता था। इसी में भगवान का लोकरजन स्वरूप निहित था। भारत में भावात्मक रहस्यवाद तेजी से फैल रहा था। इसमें अद्वैत की झलक थी। वहाँ शायरी का तो प्रथम विषय ही यह बन गया था। खलिफाओं की कड़ी धार्मिक शासन प्रणाली की कड़ियाँ सूफी फकीरों की मधुर वाणी ने छिन्न-भिन्न कर डालीं। जनता सूफियों के प्रेममय संगीत में बह निकली और प्राचीन ऋद्धियाँ आपसे आप टूट कर गिर पड़ीं। जब सूफी मुसलमान भारत में आये तो उन्होंने भारत के वेदान्ती लोगों से भेंट की। दोनों का विचार-विमर्श हुआ और उसके फलस्वरूप वे सभी प्रभावित हुए। हिन्दू धर्म और मुसलमान धर्म दोनों अपनी विभिन्न शाखाओं में बह निकले। इन शाखाओं की मान्यताओं में कहीं मेल था और कहीं बेमेल। विचित्र बात जो सामने आई वह यह थी कि बहुत-सी मुसलमानी शाखाओं की अपनी मान्यतायें और हिन्दू धर्म की शाखाओं की अपनी मान्यतायें इतना मेल खा गईं जितना मेल उन शाखाओं का अपने धर्म की अन्य शाखाओं से भी नहीं था। इसके फलस्वरूप एक सामान्य भावना ने जन्म लिया। ये मान्यतायें न अकबर के ‘बीन-इलाही’ मजहब की मान्यतायें थीं, वरन् ईश्वर भक्तों की भावना थीं, जिनमें सरलता, मधुरता और कोमलता से सच्चाई को परखने की जिज्ञासा थी, यह भक्ति-भावना थी। इसी सामान्य विचारधारा का प्रभाव हमें कबीर, जायसी, मीरा इत्यादि की कविता में मिलता है। इस सामान्य विचारधारा में वेदान्त और सूफीमत का सामंजस्य था, अद्वैत रहस्यवाद का मूल सिद्धान्त जहाँ से रस पाता है, खुराक पाता है—यह वह स्थान था।^{१२}

१. जायसी साहित्य और सिद्धान्त

२. जायसी साहित्य और सिद्धान्त

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने रहस्यवाद के मूल उद्गम, उसके भारतीय साहित्य तथा भक्ति में प्रवेश और विकास का सांकेतिक परिचय प्राप्त किया है। अब हम जायसी और कबीर के रहस्यवादी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

रहस्यवाद को लेकर जायसी और कबीर के सम्बन्धों में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कोई कबीर को सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी ठहराता है तो कोई जायसी को रहस्यवाद का कुशल नायक मान कर उसके काव्य-सौन्दर्य में अपनी सुधि-बुधि खो बैठता है। अधिक नहीं, हम यहाँ दो-तीन विद्वानों के उद्धरण दे रहे हैं जिनसे उनका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाएगा।

१. “रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों (जायसी आदि) का रहस्यवाद तो उनके प्रबन्ध के बीच-बीच में बहुत जगह धिगली-सा लगता है और प्रबन्ध से अलग उसका अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है।”^१

२. “कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही उच्चकोटि की है। वे सूफियों की भक्ति-भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप-माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का ‘पुरुष’ के समागम के हेतु प्रकृति के शृंगार, उत्कठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव करते हैं।”^२

३. “कबीर का रहस्यवाद प्रायः शुष्क और नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नहीं है।”^३

इन विद्वानों के मतों को देखने से ऐसा लगता है कि ये अपने-अपने प्रिय कवि को लेकर साहित्य न्यायालय में वकालत कर रहे हैं, किन्तु किसी का भी दृष्टिकोण निष्पक्ष और सर्वांगीण नहीं। इन मतों में एकांगिता स्पष्ट परिलक्षित है।

समानता

(इतना तो सभी जानते हैं कि साधना के क्षेत्र में कबीर और जायसी दोनों साधनात्मक रहस्यवाद को (जिसमें योग, तंत्र, रसायन आदि का समावेश होता है)

१. डा० श्यामसुन्दर दास—कबीर ग्रंथावली की भूमिका, पृष्ठ ७५ (पंचम संस्करण)

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—जायसी ग्रंथावली की भूमिका, पृष्ठ १६४ (पंचम संस्करण)

३. डा० अन्नबाली पाण्डेय

मानते हैं। अन्तर केवल भावना के क्षेत्र में है। कबीर प्रकृति को मिथ्या मानते हैं, इस नाते उनके यहाँ प्रकृति तिरस्कृत है, परन्तु जायसी के यहाँ 'सर्वस्वत्विवदं ब्रह्म' होने के कारण प्रकृति परमात्मा की भूलक का साधन बन गई है (इसे यों भी कहा जा सकता है कि कबीर में आत्मा और परमात्मा का सीधा सम्बन्ध है, जबकि जायसी में प्रकृति परमात्मा के सौन्दर्य का प्रकाश होने के कारण स्वयं परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है)। कबीर में ज्ञान प्रेम पर विजयी हुआ है, परन्तु जायसी में प्रेम ने ज्ञान पर विजय प्राप्त की है। इस प्रकार एक ही लक्ष्य तक पहुँचने वाले इन दो साधकों की भावनाओं में पर्याप्त भेद हो गया है, वैसे जहाँ दोनों में प्रेम की तन्मयता की अभिव्यक्ति है वहाँ उनकी उक्तियों को देख कर ऐसा लगता है कि दोनों में कोई भेद है ही नहीं। समानता के लिए पहले हम विरह के उदाहरण लेंगे—

“हाड़ भये सब किंगरी, नसैं भई सब ताँत ।
रोंव-रोंव ते धुनि उठे, कहीं बिथा केहि भाँति ॥”

—जायसी

“सब रग तंत रबाब तन, विरह बजावे नित ।
और न कोई सुन सकै, कै साईं के चित्त ॥”

—कबीर

“यह तन जारों छार कं, कहीं कि पवन उड़ाव ।
मकु तेहि मारग उड़ि पड़ं, कंत धरै जहँ पाँव ॥”

—जायसी

“यह तन जारों मसि करों, ज्यो धूआँ जाइ सरग ।
मति वे राम दया करें, बरसि बुझावें अग ॥”

—कबीर

“करि सिंगार तापर का जाऊँ । ओहि देखहु ठावाहि ठाऊँ ॥
जो जिउ मैं तो उहे पियारा । तन मन सों नहि होय निनारा ॥”

—जायसी

“सोबो तो सुपने मिले, जागो तो मन माँहि ।
लोचन राता सुधि हरी, बिछुरत कबहूँ नाहि ॥”

—कबीर

“कुहुकि-कुहुकि जस कोयल रोई । रक्त कं आंसु घुंघुचि बन बोई ।
जँह-जँह ठाढ़ होंहि बनवासी । तँह-तँह होंहि घुंघुचि कं रासी ॥
बूँद-बूँद भँह जानहु जीऊ । गुँजा गुँजि करं पिउ-पीऊ ॥”

—जायसी

“नैना नीभर लाइया, रहत बसं निसि जाम ।
पविहा व्योँ पिउ-पिउ करों, कबरे मिलोगे राम ॥”

—कबीर

अब मिलन के कुछ उदाहरण लीजिए—

“देखि मानसूर रूप सोहावा । हिय हुलास पुरइनि होइ छावा ।
गा अंधियार रैन मसि छूटी । भा भिनसार किरन रवि फूटी ॥
अस्ति-अस्ति सब साथी बोले । अंध जो अहै नैन निज खोले ॥”

—जायसी

“कुलहिन गावहु मगलाचार ।

हमारे घर आये राजा राम भरनार ॥

तन रत कर मैं रत करिहौं, पाँचों तत्त बराती ।

रामदेव मेरे पाहुन आये, मैं जोबन मदमाती ॥

सरित सरोवर बेदी करिहौं, ब्रह्मा वेद उचारा ।

रामदेव संग भाँवरि लंहौं, धनि-धनि भाग हमारा ॥

सुर तंतीसों कौतुक आये, मुनिवर सहस अठासी ।

कह कबीर हम व्याहि चले हैं, पुरुष एक अविनासी ॥

—कबीर

तात्पर्य यह है कि जहाँ मिलन और तीव्रता का वर्णन है, शुद्ध अध्यात्मिक धरातल पर आत्मा के शोक और हर्ष की व्यंजना है वहाँ कबीर और जायसी में कोई भेद नहीं। सूफी सिद्धान्तों के परिणामस्वरूप अभिव्यक्त होने वाली इस समान अनुभूति में कोई एक दूसरे से पीछे नहीं है। कही-कहीं तो यह पता लगाना भी मुश्किल हो जाता है कि प्रेम विरह और मिलन की ये सामान्य कथाएँ जायसी द्वारा पहले लिखी गई या इन दोनों की प्रेरणा का स्रोत कोई तीसरा ही है।

असमानता

❶ कबीर शंकर के मायावाद से प्रभावित हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा और परमात्मा वस्तुतः एक हैं। माया के कारण ही दोनों में भिन्नता है। यदि माया का पर्दा बीच से हट जाय तो जीव और ब्रह्म पुनः मूलाकार में आ जाय। दोनों भागों का एकीकरण हो जाय। देखिए इसी तथ्य को कबीर ने अपने काव्य में कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है।

“जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी ।

फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ कथी गियानी ॥”

कबीर को माया से बड़ी चिढ़ है। उनके विचार में वह पिशाचनी है। वही जीव को सांसारिक आकर्षणों में बाँधे रहती है। इसीसे वे कहते हैं—

“माया महा ठगिनि हम जानी ।
निरगुन फाँस लिए कर डोले, बोले मधुरी बानी ॥”
अथवा

“इक डाइन मोरे हिय बसी, निस दिन मोरे हिय को डसी ।
या डाइन के लड़का पाँच, निस दिन मोहि नचावे नाच ॥”

पाँचों लड़कों से तात्पर्य-काम, क्रोध, मोह, मद, लोभ से है। वस्तुतः जीव भगवान से मिलने के लिए अत्यन्त आतुर है, परन्तु मार्ग में सांसारिक माया मोह बाधक हैं।

“मैं जानू हरि सो मिलूँ, मो मन मोरी आस ।
हरि बिच डारे अन्तरा, माया बड़ी पिशाच ॥”

इस माया को दूर भगाने का एकमात्र साधन वे ज्ञान बताते हैं। उनका विश्वास है कि इससे मुक्ति पाते ही आत्मा और परमात्मा एक तत्व हो जायेंगे—
“जैसे जलहि तरंग तरंगिनि, ऐसेहि हम दिखरावगे ।”

जायसी पूर्णतः सूफी है। सूफी मत में भी यद्यपि बन्दे और खुदा का एकीकरण हो सकता है, पर उसमें माया का कोई स्थान नहीं। जिस प्रकार अपने निद्विष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए एक यात्री को मार्ग में कुछ स्थान पार करने पड़ते हैं, उसी प्रकार सूफीमत में आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए व्यग्र होती है और परमात्मा से मिलने के पूर्व अपनी साधना के मार्ग में उसे चार दशायें पार करनी पड़ती हैं—
१. शरीअत, २. तरीकत, ३. हकीकत, ४. मारिफत। इस ‘मारिफत’ में जाकर आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन होता है। वहाँ आत्मा स्वयं ‘फना’ (स्वाधीनता) होकर ‘वका’ (तद्रूपावस्था) के लिए प्रस्तुत होती है। इस प्रकार आत्मा में परमात्मा अनुभव होने लगता है और ‘अनलहक’ सार्थक हो जाता है। अपने अनुराग में चूर होकर आत्मा यह आध्यात्मिक यात्रा पार करके ईश्वर से उसी प्रकार मिलती है जैसे शराब और पानी। जायसी ने ‘चार बसेरे जो चढ़ै, सत से उतरै पार’ कहकर इसी सूफी साधना की ओर संकेत किया है।

कबीर ने जिसे माया कहा है, सूफी कवियों की साधना का वह प्रमुख माध्यम है। जायसी की दृष्टि समष्टि-मूलक है। सम्पूर्ण विश्व में वे उसी अनन्त अनादि का व्यापक रूप देखते हैं। इस नाते विश्व की कोई भी वस्तु अनादरणीय व त्याज्य नहीं। देखिए, उस परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य-सत्ता की ओर कंसा हृदयग्राही मधुर संकेत है।

“बहुतै जोति जोति ओहि भई ।

रवि ससि नखत बिपाँहि ओहि जोती । रतन पवारथ मानिक मोती ॥
अहं जहं विहँसि सुभावहि हँसी । तँह तँह छिटकि जोति परगसी ॥

नयन जो बेला कंबल भा, निरमल नीर शरीर ।

हंसत जो देखा हंस भा, बसत जोति नग हीर ॥”

कबीरदास को बाहर जगत में भगवान् की रूपकला दिखाई नहीं देती। वे सिद्धों और योगियों के अनुकरण पर ईश्वर को केवल अन्तस् में बताते हैं—

“भोको कहाँ ढूँढ़े बन्धे, मैं तो तेरे पास में।

ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे क़ैलास में ॥”

इसी भावना को जायसी ने भी व्यक्त किया है—

“पिउ हिरदय मँह, भेंट न होई।

कोरे मिलाव कहौं केहि रोई ॥”

उस अखंड ज्योति का आभास पाकर जायसी का हृदय किस तरह जगमगा उठता है, इसे इन पंक्तियों में देखिए—

“देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुंलास पुरइन होइ छावा ॥

गा अंधियार रैन मसि छूटी। भा भिनसार किरन रवि फूटी ॥

कवल विगस तस विगसि देही। भंवर दसन होइ कं रस लेही ॥”

अन्तर्जगत् और ब्रह्म जगत का कैसा अपूर्व सामंजस्य है, कैसी बिब-प्रतिबिब स्थिति है। उस प्रेममय के प्रेम से संस्तुति-प्रकृति किस प्रकार ओत-प्रोत है। इसके लिए दूसरा उदाहरण देखिए—

“उन बानन अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरो संसारा ॥

गगन नखत जो जाँहि न गने। ते सब बान ओहि के हने ॥

धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहि सब साखी ॥

रोंव-रोंव तानुष तन ठाढ़े। सूतहि सूत भेद अस काढ़े ॥

वरुन चाप अस ओपहँ, वेधे रन-वन ढाँख।

सौँजहि तन सब रोवाँ, पंखहि तन सब पाँख ॥”

पृथ्वी और स्वर्ग, जीव और ईश्वर दोनों एक थे, न जाने किसने इतना भेद डाल दिया है—

धरती सरग मिले ठुत बोऊ। केइ निनार कं दीन बिछोहू ॥”

समस्त प्रकृति इस विरह-वियोग से पीड़ित है—

“सूरज बूड़ि उठा होइ राता। औ मजीठ टेसू बन राता ॥

भा बसंत राती बनसपती। और राते सब योगी यती ॥

भूमि जो भीजि भयऊ सब गेरू। औ राते सब पंख-पखेरू ॥”

प्रकृति के महाभूत उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है—

“पबन जाइ तहँ पहुँचे चहा। मारा तंस लोटि भुँइ रहा ॥

अग्निनि उठी जरि बुझी नियाना। धुँआ उठा उठि बीच बिलाना ॥

पानि उठा उठि जाइ न छुआ। बहुत रोइ आइ भुँइ छुआ ॥”

(इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति के माध्यम से जायसी अपना मंतव्य कितने सरस, हृदयग्राही तथा प्रभावोत्पदक ढंग से व्यक्त करने में सफल हो सके हैं।) प्रकृति को अपने घर से निर्वासित कर देने के नाते कबीर इतने सरस, मनमोहक और प्रभावशाली न बन सके। उनमें नीरसता आ गई (कबीर का रहस्यवाद हिन्दुओं के अद्वैतवाद और कुछ सीमा तक मुसलमानों के सूफीमत पर आश्रित है।) अद्वैतवाद से माया और चिन्तन तथा सूफीमत से प्रेम लेकर उन्होंने अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है।

उस विराट् की महा अनुभूति प्राप्त करने के लिए आत्मा को प्रेममय होना पड़ता है। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—“वह सांसारिकता का बहिष्कार कर विषय और अलौकिक वातावरण में उठती है। वह उस ईश्वर के निकट पहुँच जाती है जो इस विश्व का निर्माण करता है। उस ईश्वर का नाम है, सत्पुरुष।”^१ सत्पुरुष के संसर्ग में वह आत्मा उस दैवी शक्ति के कारण हतबुद्धि सी हो जाती है। वह समझ ही नहीं सकती कि परमात्मा क्या है, कैसा है। वह अवाक् रह जाती है। वह ईश्वरीय शक्ति अनुभव करती है, पर उसे प्रकट नहीं कर सकती। इसीलिए गूंगे के गुड के समान वह स्वयं तो परमात्मानुभव करती है, पर प्रकट में कुछ भी नहीं कर सकती। कुछ समय के बाद जब उसमें कुछ बुद्धि आती है और कुछ जबान खुलती है तो वह एकदम से पुकार उठती है—

“कहँहि कबीर पुकारि के, अद्भुत कहिए ताहि।”

उस समय आत्मा में इतनी शक्ति ही नहीं होती कि वह परमात्मा की ज्योति का निरूपण करने में समर्थ हो सके। वह आश्चर्य और जिज्ञासा की दृष्टि से परमात्मा की ओर देखती रहती है। अन्त में वह बड़ी कठिनता से कहती है—

“बरनौ कौन रूप औ रेखा, बोसर कौन आहि जो बेला।

ओँकार आबि, नहि बेदा, ताकर कहहु कौन कुल भेदा ॥

×

×

×

“शून्य सहज स्मृति से, प्रकट भई इक जोति।

ता पुरुष की बलिहारी, निरालंब जे होति ॥”

—रमैनी-६

यहाँ आत्मा सत्पुरुष का रूप देखकर मुग्ध हो जाती है। धीरे-धीरे आत्मा परमात्मा की ज्योति में लीन होकर विश्व की विशालता का अनुभव करती है और उस समय वह आनन्दातिरेक से परमात्मा के गुण वर्णन करने लगती है—

“जेहि कारण शिव अजहूँ बियोगी। अंग विभूति लाइ भे जोगी ॥

शेष सहस मुख पार न पावैं। सो अब खसम सहित समुझावैं ॥”

१. कबीर का रहस्यवाद

इतना सब कहने पर अन्त में यही शेष रह जाती है—

“तहिया गुप्त स्थल नहिं काया । ताके शोक न ताके माया ॥

कमल पत्र तरंग इक माहीं । सग ही रहे लिप्त पं नाहीं ॥

आस ओस अंडन में रहई । अगणित अंड न कोई कहई ॥

निराधार आधार लै जानी । राम नाम लै उचरै बानी ॥”

×

×

×

“मर्म क बाँधि लई जगत कोई न करे विचार ।

हरि की शक्ति जाने बिना, भव बूझि मुआ ससार ॥”

इसा प्रकार संसार के लोगों को उपदेश देती हुई आत्मा कहती है—

“जिन यह चित्र बनाइया, सांचो सो सूरतिहार ।

कहहि कबीर ते जन भले, जे चित्रवंतहि लेहि विचार ॥”

इस प्रेम की स्थिति यहाँ तक पहुँचती है कि आत्मा स्वयं परमात्मा की स्त्री बनकर उसका एक भाग हो जाती है । यही इस प्रेम की उत्कृष्ट स्थिति है—

“एक अड अंकार ते, सब जग भया पसार ।

कहहि कबीर सब नारी राम की, अविचल पुरुष भर्तार ॥”

—रमैनी-२७

और अंत में आत्मा कहती है—

“हरि मोर पिउ साईं, हरि मोर पीव ।

हरि बिन रहि न सकै मोर जीव ॥

हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया ।

राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ॥

—शब्द-११७

यथा—

जो पं पिय के मन नहिं भाये ।

तो का परोसिन के दुलराये ॥

का चूरा पाइल भूमकाये ।

कहा भयो बिछुआ ठमकाये ॥

का काजल सेंबूर के बीये ।

सोलह सिंगार कहा भयो कीये ॥

अंजन मंजन करे ठगौरी ।

का पचि मरे निगौड़ी बीरी ॥

जो पं पतिव्रता है नारी ।

कैसेहि रहे सो पियहि पियारी ॥

तन मन जोबन सौं पि सरीरा ।

ताहि सुहागिन कहैं कबीरा ॥”

(इस रहस्यवाद की चरम सीमा उस समय पहुँच जाती है जब आत्मा पूर्णरूप से परमात्मा से सम्बद्ध हो जाती है, दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यहाँ आत्मा अपनी आकांक्षा पूर्ण कर लेती है और फिर आत्मा परमात्मा की सत्ता एक हो जाती है। कबीर उस स्थिति का अनुभव करते हुए कहते हैं—

“हरि मरिहै तो हमहँ मरिहँ ।

हरि न मरे हम काहे को मरिहँ ॥”)

आत्मा और परमात्मा में इस प्रकार मिलन हो जाता है कि एक के विनाश से दूसरे का विनाश और एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व सार्थक होता है। इस चरमसीमा का पाना ही कबीर के उपदेश का तत्व था। इस तरह रहस्यवाद की पूरी अभिव्यक्ति हम कबीर की कविता में पाते हैं।

4) कबीर के रहस्यवाद में ज्ञान अधिक है, प्रेम तथा विरह की अभिव्यक्ति कम। इसी से उनमें नीरसता भी है। वे सर्वत्र पाठक का हृदय रसमग्न नहीं कर पाते। उनकी वाणी अटपटी और जनसाधारण से परे है। इसी कारण उनकी कविता का प्रभाव सर्वसाधारण पर अच्छा नहीं पड़ा। हाँ, इसमें अवश्य कोई संदेह नहीं कि कबीर की कविता भारतीय परम्परा के अनुसार है। शंकर के मायावाद से तो वे प्रभावित ही हैं। विरह के पदों में स्त्री रूप आत्मा, पुरुष रूप परमात्मा से मिलने को आकुल हैं। यह भारतीय परम्परा के अनुकूल है। गुरु की महत्ता कबीर ने बड़े जोरदार शब्दों में स्वीकार की है। वस्तुतः कबीर ने मुक्त कण्ठ से मुक्त आत्मा को मुक्त ब्रह्म से मिलाने का प्रयत्न है। कबीर ने मसि कागद तो छुआ नहीं था और न कलम ही हाथ गही थी। उनका सारा ज्ञान सुना-सुनाया और सत्संगति द्वारा अर्जित था। यही कारण है कि उनकी कविता का बाह्य पक्ष आन्तरिक पक्ष की अपेक्षा अधिक निर्बल है। भाषा उनकी खिचड़ी और असाहित्यिक है ही। छन्दों की योजना भी प्रायः ठीक नहीं है। उनकी कविता पर अनेक लोगों का अनेक प्रकार का प्रभाव है।

जायसी के रहस्यवाद में रमणीयता और सौन्दर्य के साथ-साथ रसमयता है। उच्चकोटि की भावुकता के प्रदर्शन में जायसी पूर्ण सफल है। इसका प्रमुख कारण यही है कि उन्होंने लौकिक कथा के माध्यम से पारलौकिक बातों का निरूपण किया है, भौतिक सौन्दर्य में आध्यात्मिक सौन्दर्य की भाँकी देखी है। जायसी के रहस्यवाद में प्रेम की पीड़ा है, तड़पन है, मिलन है और एकात्मकता है।

साधनात्मक रहस्यवाद के वर्णन में जायसी भी कबीर की तरह ही नीरस हैं। एक उदाहरण लीजिए—

“नो पौरी तेहि गढ़ भँझियारा । ओ तहँ फिरहि पाँच कोतबारा ॥
बसब बुवार गुपुत एक ताका । अगम चढ़ाव डाट सुठि बाका ॥
भेदै जाई सोइ वह घाटी । जो लहि भेद चढ़े ओहि चाटी ॥”

इसमें नाथ पंथियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित है ।

चित्तौड़गढ़ के वर्णन में कवि ने इसी प्रकार शरीर-स्थित सात खण्ड और नौ भँवरी का वर्णन किया है—

“सातों भँवरी कनक केवारा ।
सातों पर बाजहि धरियारा ॥
सात रंग तिन सातों पँवरी ।
तब तिन्ह चढ़े फिरं नव भँवरी ॥”

इसी प्रकार की दृढ़ योग की साधना पद्धति और उसकी सांकेतिक शब्दावली का प्रयोग पद्मावत में स्थान-स्थान पर हुआ है । राजा रत्नसेन तो एक नाथपंथी योगी के ही रूप में चित्रित हुआ है । यथा—

“कहाँ पिंगला सुखमन नारी । सुनि समाधि लागि गई तारी ॥
बुँद समुन्द्र जैसे होई मेरा । गा हेराई अस मिले न हेरा ॥”

×

×

×

“जस धँस लीन्ह समुद मरजीया । उघरें नैन रं जबस दीया ॥
खोजि लीन्ह सो सरग बुवारा । वज्र जो मूँदे जाई उधारा ॥”

भावनात्मक वर्णनों में जायसी ने कमाल कर दिया है । उनकी दृष्टि व्यापक है । इसी कारण उनकी अनुभूति भी व्यापकता लिए हुए है । सम्पूर्ण संसार उनकी संवेदना में डूबा हुआ है । इसीलिए जीवात्मा स्वरूप रत्नसेन ब्रह्मस्वरूप पद्मावती से मिलने के लिए अकेला नहीं जाता, पूरे समाज के साथ जाता है । दूसरी और नागमती के वियोग वर्णन में भी हम इसी व्यापकता को पाते हैं । वह पशु, पक्षी तथा सम्पूर्ण प्रकृति में अपनी वेदना को फूँक देना चाहती है ।

जायसी की यही विशेषता उन्हें अधिकाधिक सरस और संवेदनशील बना देती है । उनके निकट सबकी सहानुभूति रहती है । प्रकृति के कण-कण में अनन्त ज्योतिर्मय का प्रकाश देखना ही जायसी के रहस्यवाद में मधुरता भर देता है । लोक को साथ रखने से उनकी सरसता सुरक्षित है । कबीर ने प्रकृति को माया कह कर ठुकरा दिया है । इसी कारण वे जायसी की भाँति सरस न बन पाये ।

कबीर और जायसी के रहस्यवाद में अन्तर होने का एक कारण और भी है । वह यह है कि कबीर शंकर के अद्वैतवाद से प्रभावित थे और जायसी सूफी फकीरों की प्रेमसाधना से । ज्ञान और प्रेम में अन्तर स्वाभाविक ही है, यद्यपि दोनों

एक ही लक्ष्य के गामी हैं। गुरु की महत्ता दोनों स्वीकार करते हैं। जायसी का तो पूर्ण विश्वास है कि बिना गुरु के निर्गुण बुद्ध को कौन पा सकता है।

दोनों ने गुरु को अत्यधिक महत्त्व देते हुए उसे साधना मार्ग का प्रदर्शक बताया है। वह साधक के जीवन में आने वाली कठिनाइयों का सद्ज्ञान द्वारा निवारण करता है।

“गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँव ।
बलिहारी वा गुरु की जिन गोबिन्द बियो बताय ॥”

—कबीर

“गुरु विरह चिनगी जो मेला ।
जो सुलगाई लेइ सो चेला ॥”

—जायसी

(गुरु के प्रयत्नों से आत्मा और परमात्मा उसी तरह मिलते हैं जैसे शराब और पानी) वस्तुतः भावुकता ने ही जायसी को जनता के अधिक निकट कर दिया। जायसी फारसी और भारतीय दोनों प्रेम पद्धतियों से प्रभावित हैं, किन्तु कबीर विशुद्ध भारतीय पद्धति से ही। कहीं-कहीं अवश्य सूफियों का प्रभाव स्पष्ट झलक आया है, पर यह निश्चित है कि कबीर की रुझान उधर स्थायी रूप से नहीं थी। इस प्रकार के कुछ उदाहरण लीजिये—

“हरि रस पीया जानिए कबहूँ न जाय खुमार ।
ममन्ता घूमत फिरं नाहीं तन की सार ॥
लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल ।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥”

निष्कर्ष

अन्त में डा० त्रिगुणायत के शब्दों में हम कहेंगे कि जायसी और कबीर दोनों हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। एक का रहस्यवाद भारतीय भक्ति मार्ग और श्रुति ग्रंथ, सिद्धमत और नाथ सम्प्रदाय से प्रभावित होने के कारण आध्यात्मिक एकान्तिक व्यष्टिमूलक सजीव और वर्णात्मक है; दूसरे का सूफी-साधना की भावना से अनुप्राणित होने के कारण अत्यन्त सरस संकेतात्मक और समष्टिमूलक है। वह प्रेमाख्यान के सहारे अभिव्यक्त होने के नाते मधुर और नाटकीय भी है।

परिशिष्ट--१

सहायक पुस्तकों की सूची

१. जायसी ग्रन्थावली—आचार्य रामचन्द्र सुक्ल
२. सूफी महाकवि जायसी—डा० जयदेव
३. सूफीमत और हिन्दी-साहित्य—डा० विमलकुमार जैन
४. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य—डा० कमल कुलश्रेष्ठ
५. सूफी-साधना और साहित्य—प्रो० रामपूजन तिवारी
६. कविवर जायसी और उनका पद्यावत—डा० सुधीन्द्र
७. जायसी—रामरतन भटनागर
८. पद्यावत का काव्य-सौन्दर्य—प्रो० शिवसहाय पाठक
९. कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा
१०. हिन्दी-साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
११. तसव्वुक और सूफीमत—डा० चन्द्रबली पाण्डेय
१२. जायसी ग्रन्थावली सटीक—डा० मनमोहन गौतम
१३. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल
१४. हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा
१५. जायसी और उसका साहित्य—यज्ञदत्त शर्मा
१६. जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य—डा० सरला शुक्ला
१७. पद्मावत भाष्य—डा० मुन्शीराम शर्मा
१८. पद्यावत (पूर्वाद्ध)—डा० मुन्शीराम शर्मा
१९. जायसी ग्रन्थावली—डा० माताप्रसाद गुप्त
२०. जायसी की काव्य साधना—दानबहादुर पाठक
२१. कबीर और जायसी का रहस्यवाद—डा० गोविन्द त्रिगुणायत
२२. हिन्दी सूफी काव्य की भूमिका—रामपूजन तिवारी

